श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितम्

वृत्तिवार्तिकम्

(शिखा-संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेतः)

व्याख्याकारः

प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी

सम्पादकः

डॉ० शशिकान्त द्विवेदी

समज्ञा प्रकाशनम्

वाराणसी

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितम्

वृत्तिवार्त्तिकम्

व्याख्याकारः
प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी
अध्यक्षः
साहित्यविभागः
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
वाराणसी।

*

सम्पादकः
डॉ० शशिकान्त द्विवेदी

प्रकाशन
समज्ञा प्रकाशनम्
वाराणसी

प्रकाशक व मुद्रक –
समज्ञा प्रकाशनम्
वाराणसी– २२१००५
दूरभाष – (0542) 316109

सन् – २००२

मूल्य – १५०

रचयिता आवास संकेत
प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी
N२/२९७ B–२ करौंदी
पो०– सुसुवाहीं (B.H.U.)
वाराणसी– २२१००५
दूरभाष – (0542) 316109

सम्पादकीय

श्रीमदप्पय्यदीक्षित वेद तथा वेदाङ्गो के निष्णात, विश्रुत विद्वान् है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना कर अपने सभी शास्त्रों मे पाण्डित्य का दर्शन करा दिया है। उपोद्घात में आप इनके शताधिक ग्रन्थों को देख सकते हैं। साहित्यशास्त्र में इन्होंने कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की भी रचना की है। यह 'वृत्तिवार्तिक' भी साहित्यशास्त्र के अन्दर यद्यपि परिगणित किया गया है किन्तु यह सभी व्याकरणादिशास्त्रों के लिए भी उतने ही उपयोगी जान पड़ता है।

इस वृत्तिवार्तिक की टीका अभीतक नहीं हुई थी जिससे इसकी पङ्क्तियों को स्पष्ट करने में कभी कभी विद्वानों को भी कठिनाई हो सकती थी छात्रों को तो थी ही। श्रीयुत् वायुनन्दन पाण्डेय जी ने एक विशेष उपोद्घात के साथ इस का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से अवश्य कराया है तथा बहुत से विषयों को छोटे–छोटे शीर्षकों से स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है जो स्तुत्य है किन्तु उससे पङ्क्तिपूर्वक अध्ययन करने के लिए स्पष्ट वाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। अप्पय्यदीक्षित, पण्डितराज तथा काव्यदर्पणकृदादि कुछ आचार्यों के मतों का निर्देश कर तथा दीक्षितमत का खण्डन उपोद्घात में है।

इस प्रकाशन में दीक्षितजी के वृत्तिवार्तिक की संस्कृत हिन्दी दोनों व्याख्याएँ दी जा रही हैं। पूज्य पिताजी से मैंने इसके लिए इस ग्रीष्मावकाश में प्रर्थना की थी। मेरी प्रर्थना को ध्यान में रखा इसके लिए मैं उनके चरणों की भूरि–भूरि वन्दना करता हूँ।

यह प्रकाशन कितना उपयोगी होगा इसके लिए तो विद्वद्गण साक्षी होगें, यदि विषयगत कोई विद्वान् निर्देश देता है तो हम उसके अत्यन्त आभारी होगें।

इस ग्रन्थ के उपोद्घात में अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त तात्पर्याख्या आदि चार और वृत्तियाँ लक्षित की गयी हैं, इन वृत्तियों में गम्भीर शास्त्रीय (मम्मट, जयदेव, दीक्षित, पण्डितराज आदि आचार्यों के) मतों की उपस्थापना तथा यथोचित समर्थन, समालोचना, दिखलायी गयी है। विशेषत: ध्यानपूर्वक छवों वृत्तियों

को देखने के बाद परस्पर इनके अलग–अलग क्षेत्र स्पष्ट हो जाते हैं। साथ ही साथ वृत्तिवार्तिक के रहस्यों का उद्घाटन भी इस उपोद्घात में है। उदाहरण में जो श्लोक दिए गए हैं वे पिताजी के ही स्वनिर्मित हैं।

वृत्तिवार्तिक की व्याख्या के सहित मूलग्रन्थ के सम्पादन के समय मैनें एकविषयक सम्पूर्ण ग्रन्थ के मूल को एक साथ देकर उसकी व्याख्या भी उसके साथ ही है। इससे पाठक को एकविषक समस्त विषय को पढते समय बुद्धिविच्छेद की सम्भावना नहीं रहेगी। छोटे–छोटे उद्धरणों से बुद्धिधारा छिन्न भिन्न सी होकर चलने से विषय की दुरूहता हो जाती है, जिससे सरल विषय भी कठिन लगने लगता है।

मैं एक वस्तुनिर्देश कर अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहूँगा। तीन चार वर्ष पूर्व जब मैं एम० ए० का छात्र था एक दिन लक्षणा पढ़ते समय मै लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा के भेद को नहीं समझ पा रहा था। मैं बार–बार यही कहता था कि जब ''गङ्गायां घोषः'' में गङ्गात्वेन तट उपस्थित होता है तो यहाँ भी तो उपादानलक्षण ही है, क्योकि गङ्गात्व का उपादान तो तट में ही जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में कुन्तधारी के साथ कुन्त का उपादान है। मैने इसे कई लोगो से पूछा किन्तु या तो कोई मौन हो जाता था या हृदय में बैठने वाला उत्तर मुझे नहीं मिलता था। मैने पिताजी से डरते–डरते पूछा, उन्होने कहा, तुमने कुछ सोचा है या नहीं। यह तो जानते हो कि आचार्य मम्मट निःसन्देह वाग्देवता माने जाते हैं फिर जब उन्होने उसमें भेद किया है तो अवश्य ही कोई भेद होगा, फिर स्वयं भेद समझो। मै क्या समझूँ मुझे तो समझ में आ ही नहीं रहा था, दूसरे दिन उन्होने पुनः मुझसे पूछा कि उत्तर मिला या नहीं, मैं चुप रहा। फिर उन्होनें कहा कि देखो, लक्षणा का विषय है वाधित अर्थ वाले स्थल में अवाधित अर्थ को लक्षित कर वाक्यार्थ को पर्यवसित कर देना। इसीलिए यह अभिधा की पुच्छभूता मानी जाती है। ''कुन्ताः प्रविशन्ति'' में तो प्रवेशन क्रिया में स्वतन्त्रतया वाधित कुन्त से अवाधित कुन्तधारी पुरुष की लक्षणा हो जाती है तथा प्रवेशन क्रिया में कुन्तधारी

पुरुष के साथ कुन्त भी वाक्यार्थ में अन्वित रहता है। किन्तु 'गङ्गायां घोषः'' में, वाधित प्रवाहार्थ से अवाधित तट की लक्षणा हो जाती है जिससे तट में घोष का अधिकरण बन जाता है। यदि घोष के अधिकरण के लिए गङ्गात्व का भी उपादान करने लगें तो गङ्गात्व अमूर्त तथा प्रवाहरूप होने से घोष का अधिकरण क्या बन सकता है? जिसे आप उपादानलक्षणा कहेंगे।

अतः इन दोनो का इस प्रकार अन्तर समझना चाहिए। गङ्गात्वेन तट की उपस्थिति से केवल तट में गङ्गागतशैत्यपावनत्व प्रतीतिरूप फल सिद्ध होता है, वाक्यार्थ से इसका कुछ लेना देना नहीं।

ऐसे ही अप्पय्यदीक्षित द्वारा निर्दिष्ट लक्षणलक्षणा तथा शुद्धा–साध्यवसाना में अभेद के निराकरण में भी अत्यन्त ही मार्मिक युक्ति ग्रन्थ में दर्शायी गयी है, तथा दोनों का भेद स्पष्ट किया गया है। ऐसे अनेक स्थलों में समुचित युक्ति का निर्देश मिलता है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के सम्पादन से मुझे परमप्रसन्नता हुई है। मैं उन विद्वानों गुरुचरणों छात्रभाइयों एवं वहनो सब का आभारी होऊँगा जो इसे मनोयोग से पढ़कर इसमें कुछ अपना मत मुझे लिखित भेजने का कष्ट करेगें। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं उनके द्वारा निर्दिष्ट विचार को ज्यों का त्यों अगले संस्करण में अवश्य दूँगा।

विद्वद्चरणमकरन्दलोलुपः
शशिकान्त द्विवेदी

उपोद्घातः

वृत्तिविमर्शः

वन्दे श्रीसद्गुरुं लोके लोभानाक्रान्तचेतसम्।
यस्याशिषाल्पधीश्चन्द्रमौलिर्मौलीयति स्फुटम्॥ १॥
अम्बिकापरमानन्दसंदोहादोहदायिनी।
स्थिता हस्तङ्गुलीष्वग्रे लेखादौ पातु नः सदा॥ २
लास्यं नो तनुते यदीह गौर्या वृत्तेः, सदर्थेशितुः
नृत्तं क्वात्र जगन्मयं व्यवहरत्यन्धो गिरा मानवः।
तस्माल्लास्यपरा ममेह परमानन्दाद्वयाम्बानने
सुप्तां वाचममन्दभावभरितामुद्घाटयेदिष्टदा॥ ३
पीयूषं दधती वचःसुरगवी नो वृत्तिवत्सां विना
स्नूयादामुदिता समीहितगुणालंस्वादपोषोद्धुरम्।
तस्माद् वत्सतयात्मभावनपराः काव्यीयमर्माप्तये
चिन्तेयुः रचिता इमा दृढतरं वृत्तिर्मुदा कोविदाः॥ ४
वाणीगौर्या रसाजर्यपीयूषं पातुमिच्छुषु।
षड्भिर्वृत्याननैरेकः सेनानीर्विबुधेष्वलम्॥ ५
शब्दार्थरससंबद्धा वृत्तयो बहुधा मताः।
अर्थबोधानुकूला हि निरुप्यन्तेऽत्र षड् मया॥ ६
मुकुलमम्बुजिनीश्रुतवृत्तिषु कचयते जयदेवकविस्तथा।
नवपरागकणान् हि चिचाय स बुधवरोऽप्यलमप्पयदीक्षितः॥ ७
तदत्र वृत्तिवार्तिकं न टीकितं बुधैरिति
विचित्रभावगूहितं, विचार्य शिष्यहेतवे।
समुद्यतिः सटीकितुं सभाषयार्यभाषया,
मम त्रुटिं, पदे पदे सहेत को बुधैर्विना॥ ८

विषयप्रवेशः

अभिधावृत्तिनिरूपणम्

संकेतितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकत्वमभिधा। प्रतिपादकत्वमभिधा -नम्। "साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः इति मम्मटः। 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' इति दीक्षितः। शब्दस्यार्थगतः अर्थस्यशब्दगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधा इति पण्डितराजः।

"धर्मं कञ्चित्पुरस्कृत्य प्रायः शब्दः प्रवर्तते।
यथार्थः स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः॥
जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः॥
गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात्।
कंसंहिनस्ति कंसारिर्नरं च कं समाश्रितम्॥ इति जयदेवः।

इत्यादिभिर्लक्षणैराचार्या अभिधास्वरूपं प्रत्यपादयन्।

करणधिकरणार्थकक्तिन्प्रत्ययो वृत्तौ गृहीतः। तत्राभिधा-वृत्तेर्व्यापाररूपत्वात् करणार्थकक्तिन्प्रत्ययं स्वीकृत्याभिधादिषु वृत्तिपदप्रयोगः। वृत्तिनिरूपणप्रसङ्गे प्रतिपादकत्वपदेन प्रतिपादक-शब्दनिष्ठा प्रतिपत्तिहेतुरूपा काचिद्वृत्तिः स्वीक्रियते। यद्यपि प्रतिपादकशब्दनिष्ठज्ञानकरणकता, शाब्दबोधे भवति किन्तु पदार्थोपस्थितौ वृत्तेरेव करणता। अतः प्रतिपादकनिष्ठशाब्दबोधा-र्थोपस्थितिसम्बन्धिकरणत्वात्मधर्मद्वयं लभ्यते। तत्र शाब्दबोध-करणतावारणाय 'शक्त्या' प्रतिपादकत्वमिति श्रीमदप्पय्यदीक्षिते-नोक्तम्। शक्तिस्तु साक्षात् सामर्थ्यम्। साक्षात् सामर्थ्यं तु, पदे व्याकरणोपमानादिना जायते। यथोक्तम्-

शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अतः मम्मटेनापि-

साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।
संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥" इति।

संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति शब्दगतोऽर्थ-प्रतिपादको व्यापारोऽभिधा। पदगतोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुकरणता शाब्दं प्रतिपादयितुम्। इत्थं शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधेति।

पण्डितराजेनात्रासंगतिरात्माश्रयश्च दोषद्वयं दर्शितम्। तत्रोक्तम्—

"इह शब्दाज्जायमानायामर्थोपस्थितौ कारणीभूतं यदीयज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या लक्ष्यतया प्रस्तुता"। प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दगतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ कारणम् अतः कथं नाम प्रतिपादकत्वमभिधेति उच्यते"। इत्यादिनासंगतिर्दर्शिता। अत्र यदीयज्ञानं सा अभिधेति यदुक्तम्, तत्र पृच्छ्यते ज्ञानमभिधा वा ज्ञानहेतुः। चेन्न ज्ञानमभिधा अपितु यदीयज्ञानमिति यत्पदेन निर्दिष्टस्य तदाभिमर्शस्तदानीमभिधासम्बन्धि कीदृशं ज्ञानमभीष्टम् ? शब्दस्वरूपात्मकं वा तदर्थात्मकम्। अभिधासम्बन्धि उभयात्मकमपिज्ञानं शब्दादर्थोपस्थितौ न कारणीभूतम्। अतः शब्दादर्थोपस्थितौ, अर्थप्रतिपत्तिहेतुरूपो यो व्यापारः साऽभिधेति वक्तुं प्रस्तुता।

इत्थं प्रतिपादकत्वस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दस्यैवार्थप्रतिपत्तौ कारणम्। यश्चात्माश्रयो दोषः सोऽपि न घटते। यतो हि पूर्व, शक्तिः संकेताभिन्नेति प्रतिपादिता न च संकेत एवाभिधा अपितु संकेतसहाये शब्दे अर्थनिरूपिताभिधा। इत्थं लक्षणे शक्त्यतिरिक्तैवाभिधेति नास्त्यात्माश्रयदोषः। न च "धान्येन धनवान्" इत्यादिवत् शक्त्याःप्रतिपादकत्वात्माभिधायाश्च सामान्यविशेषभावः। सामान्येन लक्षितस्य लक्षणस्य न विशेषलक्षणत्वम्। अतिव्याप्तिप्रसङ्गात। मुकुलभट्टाभिहिताभिधाया वारणाय शक्त्येति। तदग्रहणे न तावन्मुख्यार्थमात्रप्रतिपादकत्वस्याभिधाया लक्षणसम्भवः। यत्तु शक्त्यभिन्नप्रतिपत्यनुकूलो व्यापारोऽभिधेति नागेशेनोक्तम् तत्रापि शक्तिपदेन संकेतात्मप्रतिपत्तिमच्छब्दार्थानुकूलोव्यापारो ग्राह्यः। अथवा शक्त्यभिन्नप्रतिपत्तिरर्थोपस्थितिस्तदनुकूलो व्यापारोऽभिधेति।

गौरतिशब्दः गौरित्यर्थ इत्यादिना तथा च 'स्वं रूपं शब्दस्ये' त्यादिना शब्दस्य स्वार्थस्वरूपयोरुभयोर्ग्रहणं क्रियते, तेन शब्दस्य शब्दगता, अर्थस्यार्थगता शब्दस्यार्थगता अर्थस्यशब्दगतेति चतुर्धाभिधा प्रतिपत्तुं शक्यते। तत्राद्यस्य डित्थादिर्यदृच्छाशब्दः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहतक्रमं स्वरूपं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। संज्ञिषूपाधित्वेन यदा सन्निवेश्यते तदानीं शब्दस्यार्थगतः। चतुर्विधेषु संकेतितार्थेषु शब्दस्यार्थगताभिधा मन्तव्या।

अर्थस्यार्थगता अभिधा, अर्थशक्तिरूपा। यदा अभिधामूलार्थशक्त्युत्थो ध्वनिर्भवति तदानीं वक्तृबोद्धव्याद्यर्थेन पूर्वं वाच्यार्थे सामर्थ्यमुत्पाद्यते तदानीं वाक्यार्थो, वाच्यार्थो वा कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तः। अतः उक्तं आचार्यमम्मटेन-

'अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः' इति। अर्थस्य शब्दगतस्तु 'कं संहिनस्ति कंसारिर्निरं च कं समाश्रितम्। कं संहिनस्ति इति वाच्यस्य कंसारिरित्यत्राभिधा। कंसरिः कं संहिनस्ति इति कृते प्रश्ने, कं समाश्रितं नरम् इति वाच्यार्थस्य नरकं, नरकासुरमिति शब्दे अभिधा तथा च कमाश्रितं सम् इति वाच्यस्य कंसमिति शब्देऽभिधा। इत्थं सर्वमनुसन्धाय जयदेवेन चन्द्रालोके निर्दिष्टम्-

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः। इति।

पण्डितराजेन - शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधा इति लक्षणं कृतम्।

तत्र प्रष्टव्यम् - अर्थस्यशब्दगतः सम्बन्धविशेषः कीदृशः। शब्देन वाक्यं गृहीत्वा, वाक्यार्थस्य वाक्यगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधेत्यन्विताभिधानवादिनां मतेनाभिधा लक्ष्यते चेत्तदानीं त्रिविधाभिधाया उदाहरणत्वेन दर्शितानां डित्थ-पाचक, पङ्कजादीनां कथमनुकूलत्वम्।

पदार्थमात्रे चेत् तदानीं सान्तरार्थतटनिरूपितगङ्गानिष्ठलंक्षणायामतिव्याप्तिः। तस्या अपि सम्बन्धविशेषत्वात्। अर्थनिष्ठत्वाच्च।

मुख्यार्थविषये यः संख्याभेदआचार्यैर्निर्दिष्टस्तत्र महाभाष्यस्य 'गौः शुक्लश्चलोडित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरि'ति मूलमस्ति अत्राचार्यमम्मटेन चतुष्टयी चतुरवयवात्मिका प्रवृत्तिरुपाधिरिति कृत्वा उपधेयस्यैकस्यैव कृते चत्वार उपाधयो निर्दिष्टाः। तथा च जातिपक्षे प्रवृत्तिः जातिः। जातिगुणक्रियायदृच्छादिचतुष्टयशब्दानां तद्तद्गतत्वेन भिन्नाऽपि जातिर्नाम्ना एकैवेति इति चतुष्टयी जातिः।

आचार्यजयदेवेन 'इत्यादौ' पदस्यादि पदेनोक्तातिरिक्तसंज्ञानिर्देशयोरपि ग्रहणं कृतम्। अत्र प्रवृत्तिरभिधास्ति। तथा च प्रत्येकं जात्यादौ अभिधा गृहीता। मुकुलभट्टेनापि दशधाभिधानिरूपणप्रसङ्गे चतुर्षु विभक्ततयैवाभिधा निरूपिता।

एतेषु यया शक्त्या अभिधा प्रवर्तते सा सिद्धधर्मात्मवस्तुषु संज्ञासु च केवलसमुदायात्मिका साध्यधर्मात्मवस्तुषु केवलावयवात्मिका तथा च वस्तुयोगात्मवस्तुषु उभयात्मसंकरात्मिका निर्देशात्मिकेति। एतेष्वाद्यायां गौः शुक्लः डित्थादीनां ग्रहणम्। तत्र केवलं समुदायशक्तेः सद्भावादवयवशक्तेरभावात्। न च 'गौः' पदस्य 'गमेर्डो' इत्यादिना

व्युत्पादनात् गच्छतीतिगोरिति अवयवशक्तेरुल्लासः कल्पनीयः, शयितायां गवि तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तस्याभावात्। न केवलं व्युत्पत्तिमात्रेणैव तत्रावयवशक्तेरुल्लासो मन्तव्यः। डित्थादावपि डिम्भेषु तिष्ठति' इति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयत्वेन व्युत्पादयितुं शक्यत्वात्। अतश्चोक्तमभियुक्तैः 'अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तमिति।' अतः शब्दानां प्रवृत्तौ तु केवलसमुदायशक्तेरुल्लासः स्वीकर्तव्यः।

द्वितीयायां तु चलः, पाचकः पाठकः। पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः साध्यधर्मः। अत्र चलतीति पचतीति चलः, पाचकः, इत्यदिशब्देषु धातुप्रत्ययबोध्ययोरर्थयोरन्वयेनैवोल्लासाच्चलनपाककर्तृत्वरूपोऽर्थोऽभिधीयते। अतोऽत्र केवलावयवशक्तिः। तृतीयायां तु दण्डी, पङ्कजं इत्यादय उदाहरणानि। अत्र वस्तुयोगेनाभिधा-प्रवर्तते। दण्डः, अस्ति अस्येति विग्रहेण सर्वदण्डग्राहिषु नरेषु अभिधावारणाय दण्डग्राह्यतिरिक्तस्य केवलस्य सन्यासिनो ग्रहणं क्रियते। अतः प्रकृतिप्रत्ययावयवशक्तिवेद्यानां दण्डग्रहणकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादन्वये जाते दण्डग्रहणकर्तृरूपादर्थादतिरिक्तस्य सन्यासिनः प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तेरपि कल्पनादुभयोः संकरः। एवमेव पङ्कजेऽपि पङ्कजनिकर्तृरूपात्शैवलाद्यर्थादतिरिक्तस्य पद्ममात्रस्य ग्रहणदवयवसमुदाययोरुभयोः शक्त्योरुल्लासात् संकरो मन्तव्यः। यत्रार्थस्य शब्दगताभिधा तत्र यौगिकरूढनाम्ना गृह्यते। कंसारिः कं हिनस्ति इति प्रश्ने नरमाश्रितं कं (हन्ति)।

अत्र नरमाश्रितं कं, (अहन्त्वं) इति नरकं योगः, नरकमिति असुरे रूढिः। यदा नरकमिति अभिधीयते तदानीं नराश्रिताहन्त्वस्यानन्वयात् नरकासुरे न तावत् तृतीयायाः शक्तेरुल्लासः। यदा नरकमिति असुरो गृह्यते तदानीं रूढेः साम्राज्यात्। अश्वगन्धां पिबेत् अश्वगन्धा वाजिशाला इत्येकस्यैव पदस्य पिबेत्-वाजिशालेतिसन्निहितपदाभ्यामुपगतार्थस्यैव अभिधा तत्र तत्र प्रसज्यते। अतोऽत्र निर्देशेनेति जयदेवोक्तेनाभिधाप्रसक्तिः मन्तव्या। इत्थं चतसृष्वप्यभिधासु शब्दस्य शब्दगता अर्थस्यार्थगता चेत्युभयोरतिरिक्तभ्यां शब्दस्यार्थगताऽर्थस्य शब्दगतेत्युभयोः क्षेत्रं साहित्यशास्त्रे विशेषेण निरूपितप्रायं लभ्यते। अतोऽतिरिक्तमेतयोः क्षेत्रमपि निर्दिश्यते।

श्लेषस्थले अनयोरेवाभिधयोरुल्लासः। तत्रार्थस्य शब्दगता-

भिधा अर्थभेदेन शब्दभेद इति न्यायाद् वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा- प्रकृति-प्रत्यय-विभक्तिवचनानां भेदादष्टधा। तथा च मम्मटोक्तार्थश्लेषस्य विषयो यत्र

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च।।

इत्युदाहृतम्। एतत् सर्वं मन्तव्यम्। अर्थस्य शब्दगतत्वेऽभिधायां हेतुः व्याकरणोपमानादिः सर्वोऽपि ऋते कोषात् संकेतग्राहकः।

एतेषु पदश्लेषो यथा – ममैव –

जननीरागहेत्वन्तर्मोदमाराधनाक्षमं।
रसान्तरार्थसम्बद्धमावयोर्वचनं समम्।।

जनानां नीरागहेतु, अन्तर्मोदमाया (लक्ष्म्याः) आराधनेऽक्षमं, रसान् अन्तरा येऽर्थाः तैःसम्बद्धम् मे वचः, तथा च जनन्या जगन्मातूरागहेतु, अन्तर्मोदमाराधनायां क्षमं, रसां धरामन्तरा, लोकोत्तरा ये अर्था तैः सम्बद्धं, तव वचनमिति।

पदश्लेषौ यथा –

जलागाधान्तरतलं सदाहंसाश्रितं चलम्।
मानसं मेऽनपापं ते सदृशं हिमवतः ध्रुवम्।।

मे मानसं जडमगाधान्तरतलं यस्येति तत्। डलयोरभेदात्। सदाहं साश्रितं चलं अपापरहित सपापमिति। तथा च हिमवतः मानसं (मानसरोवरः) जलेनागाधान्तरतलं हंसाश्रितं नापगता आपः अस्य, तत्, अनपापं, सर्वथा सजलमिति पदश्लेषः।

वर्णश्लेषो यथा – ममैव –

मनो निर्विण्णं सन्ननुपमसमाधिप्रणिहितं
निमीलन्नेत्रान्तर्भवमधुररूपापरिचितम्।
समद्रौ संवासाद् भवति विबुधै,र्वन्दितपदः
शुक ! स्थाणोः कस्मात्तव नहि भवेद् धेहि विधृतिम्।।

निर्विण्णं क्लेशात्। समाधिर्मनोव्यथा तया निमीलननेत्रान्तस्त्वेन सांसारिकवस्त्वर्थानभिज्ञं, समद्रौ सामान्यवृक्षे इति शुकपक्षे। तथा च स्थाणुशिवपक्षे, समद्रौ सत्पर्वते कैलासे। अत्र द्रु, अद्रि, इति प्रकृतिकयोः, सप्तम्यामेकमेव रूपम्।

लिङ्गश्लेषे यथा – ममैव

राधारक्ताभपादाश्रयणसमयिनी भास्वारानन्तरश्मि
प्राग्भारालोकभानुं स्फुरदमलदलद्दर्शनाद् धारयन्ती।

सर्वब्रह्माण्डकाण्डप्रसवशिवसमाधारभूते हिताप्तौ
तप्तानां शर्म सद्यः गुरुहृदि तनुतां दृग् हरेर्वाऽथ पद्मे।।

अत्र हरेर्दृग् राधाचरणसमयिनी विमलस्फुटावलोकनेन भानुं सूर्यं धारयन्ती, सूर्यमयीति, ब्रह्मशिवयोराधारभूता, तप्तानां दुःखदुर्भरचित्ते अभिलषिताप्तिविषयकं सुखं तनुताम् विस्तारयतु। तथा च पद्मे, पद्मापद्मरूपे, पद्मे, पद्माश्रिते राध्नोति कार्यमिति राधादिपदं बोद्धव्यम्। द्वयोरपि पद्मयोः नपुंसकमनपुंसकेनेत्यादिना नपुंसकानुसारिलिङ्गवचनादिः। अतः नपुंसकस्य द्विवचने समयोऽस्ति अनयोरिति समयिनी, द्वेऽपि, भानुं (चन्द्रं सूर्यं वा) धारयन्ती 'हिताप्तौ' आधारभूते चेति शर्म सुखं तनुताम्, परस्मैपदे द्विवचनस्य रूपम्।

प्रकृतिश्लेषो यथा ममैव

देयादनुपमां शक्तिं सुहृदांदुर्हृदामयम्।
श्रीलो विद्वद्वरेभ्यश्च मुग्धेभ्यः स्यान्नृपः सुधीः।।

अत्र, देयादिति दा दाने दोऽवखण्डने, तथा श्रीलेत्यत्र ला आदाने, लीङ्श्लेषे, श्लेषणं प्रच्छादनमिति। उभत्र प्रकृत्योः श्लेषः।

प्रत्ययश्लेषो यथा – ममैव–

भास्वत्सूर्यसहस्रभास्वरपदाङ्गुल्युत्कटोपासनात्
उद्यच्चन्द्रविनिःसरत्प्रभलसद्गण्डाननालोकनात्।
गौरि ! स्यान्नमिता यशःप्रमदभा सम्पत्सुखाधायिता
लोकालोकमहाद्रिमूर्धविधृताम्भोजाङ्घ्रिधूलीकणे !।

अत्र नमितृ आधायितृ इति तृच् प्रत्ययान्तस्य सुविभक्तौ नमितादिपदम्। स्याम् इति उत्तमपुरुषैकवचने। तथा च नमोऽस्ति अस्येति णिनिप्रत्यये, नमी तस्य भावो नमितेति, व्युत्पत्या मे प्रणामादिस्तवचरणयोः स्याद् इति बोद्धव्यम्।

अत्र स्यात् स्याम् इति तिप्मिपोस्तथा च नमितादौ तृच्तलयोः प्रत्यययोः श्लेषः।

विभक्तिश्लेषो यथा ममैव–

गोपाय भवसर्वस्वं दातास्यन्यज्जगद्धर।
आयासि निखिलं तेजःप्रतापेनैव वर्तनम्।

अत्र भवसर्वस्वं रक्ष तेजःप्रतापेनैव क्रौर्याग्निप्रकृष्टतापेनैव आयासकारि वर्तनं आचरणं, धर धारय, जगत् दातासि खण्डयितासि, श्व एव खण्डयिष्यसीति। हर– हरणं कुरु।

तथा गोपाय श्रीकृष्णाय भवसर्वस्वं दाताऽसि भक्त्या

समर्पयिताऽसि अन्यद् वशीभूतं जगत् धर धारय। तेजःप्रतापेनैव निखिलां स्थितिं महत्प्रतिष्ठां आयासि प्राप्नोसि इति। अत्रासत्सतोर्व्यवहारः श्लेषेण दर्शितः। गोपायेति सिप्ङेविभक्त्योः दातेति, लुटितिप्सुपोः आयासीति सुप्सिपोर्विभक्त्योः श्लेषः। तथा भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्यथा ममैव –

स्वल्पेनैवान्यतापेन पात्रजाड्येन वा समा।
द्रवतस्तिष्ठतो वृत्तिर्धृतस्य साधुचेतसः।

यत्र च शब्दस्यार्थगताभिधा तत्र नानार्थकस्थलं गृह्यताम्। कोशव्यवहाराभ्यामत्र नानार्थेषु संकेतः। संयोगादयः शब्दार्थसशयं निवार्य विशेषार्थस्मृतिमुत्पादयन्ति। यथोक्तम्–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।

यथा रामार्जुनगतिस्तयोरित्यत्र तयोर्विरोधिनो र्विरोधवशात् विरोधितैव रामस्य परशुरामबलरामदाशरथिरामादिकार्थकस्य तथा अर्जुनस्य कौन्तेयवर्णतरुसहस्त्रार्जुनादिकार्थकस्य च नानार्थकस्य विशेषार्थे परशुरामसहस्त्रार्जुनात्मके स्मृतिरूत्पद्यते नान्यस्य तथैव रामेण प्रियजीवितेन न कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् इत्यत्रागतस्यापि रामपदस्य केवलं दाशरथेरर्थस्य स्मारकत्वात् विशेषस्मृतिहेतुत्वम्। केवलमियानेव विशेषः यदाद्योदाहरणं शब्दार्थस्य निर्णये संशयमुत्पादयति द्वितीयं झटिति संशयमनुत्पाद्यैव विवक्षितार्थे विश्राम्यति। अतः 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे' इति विशेषणं सार्थकम्।

अनवच्छेदः संशयः। स च नानाकोटिक एव। अतो यदा नानार्थानां नोपस्थितिःस्यात्तदानीं कुतः संशयः। अतः स्पष्टमस्ति यदभिधया नानार्थोपस्थितौ सत्यामेव संयोगादीनामुपयोगित्वम्। संयोगाद्युपाधिमदभिधया विशेषार्थस्मृतिः विशेषशक्यार्थबोधायेति स्पष्टम्। न च संयोगादिरेवाभिधा तदितरस्थलेऽपि तस्याः सत्वात्। अतो संयोगादिर्द्वितीयार्थस्य प्रतिबन्धकः।

अतः नानार्थस्य शब्दस्य सकलार्थानामुपस्थितावभिधया जातायां पुनः संयोगादिना एकार्थमात्रविषयायाः पदार्थोपस्थितेरन्वयबोध इत्यर्थकमेव 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति वचनम् अतो नात्राभिधया एकमात्रार्थस्मृतिः नाप्यपरार्थोपस्थापनप्रतिबन्धकत्वम्।

इत्थमेतदपि वक्तुं सुकरम् यत् नानार्थोपस्थितेरनन्तरं संयोगादि-नैकस्यार्थस्य स्मृतिः तदनन्तरं व्यञ्जनेनापरेषामर्थानामुपस्थितिरत एवाभिधामूलत्वमस्य। अतो मम्मटेनोक्तम्-

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।

अनेकार्थवाचकत्वेन अर्थस्यापि ग्रहणादर्थविशेषे नियन्त्रिते तदितरार्थ एवावाच्यार्थः, तदितरार्थधीजनको व्यापारो व्यञ्जना। ननु नास्ति व्यञ्जना, तस्यापि कृतेऽभिधैवेति चेन्न। सामान्यतया नानार्थकशब्दात् सर्वेषामर्थानामुपस्थितौ तस्याः कृते उपयोगे पुनः विशेषस्यार्थस्य कृते उपयोगो न समीचीनः। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इत्यस्य जागरूकत्वात्। ननु प्रथमार्थविशेषस्यापि कृते न तस्या उपयोग इति चेत् सत्यम् किन्तु अभिधायाः साक्षादर्थ-बोधकत्वेन स्वीकृतायां साक्षात्बोधकत्वं प्रथमार्थे झटिति घटितत्वात् तयैव संग्रहकरणे लाघवम्। प्रथमवाक्यार्थबोधानन्तरं कालव्यवहित-द्वितीयार्थोपस्थितौ तदितरव्यञ्जनाया स्वीकारे एव लाघवम्। यथालक्षणं व्यवहर्तव्यत्वात्। अतएवोक्तम् पञ्चम् उल्लासे नियन्त्रणेना-नभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्'। इति।

अतः संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य क्वाप्य-दृष्टत्वात्' इत्याद्युक्तिरपास्ता। नहि तावत् संयोगादेरपरार्थोपस्थितौ संस्कारः कुतः तदुद्बोधकत्वम्। अत एव पयो रमणीयमित्यादौ प्रकरणाद्यभिज्ञैरप्रकरणज्ञा बोध्यन्ते नूनमस्य दुग्धे तात्पर्य शब्दस्य न जल इति।

यत्र तु नास्ति संयोगादेर्विनियोगस्तत्राभिधयोपस्थितानां सर्वेषामर्थानां तयैव बोधे नास्ति क्षतिः। अतः श्लेषस्थले सर्वस्यार्थस्य कृते अभिधैव व्यापारः स्वीक्रियते। अतः किमयं नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोल्लास आहोस्वित्क्वचिदेवेत्यादिविकल्पस्योत्थानमेव निर्मूलम्। तात्पर्यज्ञानकारणता संयोगादौ स्वीकार्या न त्वभिधायां कुतो विवादः।

ननु यथा व्यञ्जनस्य भिन्नतयाव्यापारगणने प्रयासस्तथैव संयोगादेरपि कथं नेति चेत् सत्यम्, संयोगादेः साक्षात् विशेषार्था-भिधायकत्वे अभिधाया अपि तथात्वे, नानार्थेतरस्थलेऽप्यभिधायाः साक्षादभिधायकत्वे च सामान्यविशेषभावादभिधायामेव संयोगादेरन्तर्भावः। व्यञ्जनायास्तु तद्भिन्नस्थलेषु दृश्यत्वात्

साक्षादर्थप्रतिपादकत्वाभावात् भिन्नतयोपादानमावश्यकम् अथवा संयोगादयो संकेतग्रहायोपाय इति मन्तव्यम्, यथा नानार्थकशब्दस्य कोषादिना गृहीतसंकेतस्य नानार्थोपस्थापकत्वं तथैव नानार्थकशब्दस्य संयोगादिना गृहीतसंकेतस्य विशेषार्थोपस्थापकत्वमिति मन्तव्यम्।

''हन्तैवं कृतं नानार्थस्थले व्यक्तिकल्पनये''ति यदुक्तम् तन्न।

ष्ठव्यञ्जना न स्वीक्रियते तर्हि केवलमर्थनिष्ठत्वेन अनुमितादौ कटाक्षपातादावेव गृहीताया व्यञ्जनाया स्वीकृतिः, कथं तावत् शब्दार्थात्मकस्य किं वा शब्दप्राणस्य काव्यस्य वृत्तिर्व्यञ्जना स्वीकर्तु शक्येत। केवलमर्थगतत्वेतु स्मृत्याक्षेपानुमिति-कटाक्षपातादिष्वेव केषुचिदन्तर्भावः कर्तु शक्यते। ''उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहमि''त्यादौ अगृहीतद्वितीयार्थ-शक्तिकस्य गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुंसः द्वितीयार्थ- बोधानुदयेऽपि नास्तिक्षतिः, यतोहि अभिधामूलशाब्दीव्यञ्जनायां प्रथममभिधया संकेतितानामर्थानामुपस्थितौ सत्यामेव व्यञ्जनोल्लासः अन्यथार्थी-व्यञ्जनयैव सर्वस्य संग्रहः काऽवश्यकता अभिधामूलशाब्दी-व्यञ्जनायाः। यत्तुराजेन्द्रयोरुपमानोपमेयभाव एवात्र व्यञ्जनया लभ्य इत्युक्तमसकृत् तत्र पृच्छ्यते उपमानोपमेयभावे का व्यञ्जना, शाब्दी वा आर्थी। शाब्दी चेदुपमादेरलङ्कारस्य शब्दगतत्वात् शब्दालंकारा-पत्तिः। उभयोरर्थयो श्चेत् आर्थीव्यञ्जना वक्तव्या न शाब्दी। केवलं साधर्म्यमात्रस्य शब्दनिष्पाद्यत्वाद् नोपमाव्यवहारः। अत उक्तम् 'अर्थान्तरस्य तेनसहोपमादेरलङ्कारस्य चेति 'चकाराद्वि- द्वतीयार्थ स्यापिव्यङ्ग्यत्वमेव व्यञ्जनया आगतस्य द्वितीयार्थस्य तेन सहोपमानोपमेयभावस्यापि व्यञ्जनयैव ग्राह्यत्वं तस्या विरामाभावात् धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात्। तथा चोपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्य इत्यपि न घटते यतोहि उपमेयं राजरूपार्थस्तथा चोपमानं गजरूपार्थो वाच्यौ, तथा च साधर्म्यमपि श्लिष्टशब्दात्मकत्वं वाच्यमतः न वक्तुं शक्यते यदयं व्यङ्ग्यः, अपि तु वाच्यालंकार एव वक्तव्यः।

अतएव शब्दशक्त्युत्थस्य संलक्ष्यक्रमध्वनेरुदाहरणत्वेनैतत् निर्दिष्टम्।

यत्तु 'न च शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरूल्लासे हेतुरित वाच्यम्। निःशेषच्युत इत्यादौ रमणव्यक्त्यनापत्तेः। नह्यधमपदस्य कस्यचिद्रमणे शक्ति-ग्रहोऽस्ति इत्यादि यदुक्तं तदविचारितरमणीयम्। शाब्दार्थ-

व्यञ्जनयोरेककोटौ गणनमनुचितम्। सत्येकत्वे कथं शाब्दीव्यञ्जना आर्थीव्यञ्जना चेति नामद्वयं क्रियेत। कथञ्च 'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इत्युच्येत। यथा लक्षणामूलायां लाक्षणिकशब्द एव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनप्रतिपादने व्यञ्जको भवति तथैवाभिधामूलायामपि शाब्दीव्यञ्जनायां प्रयोजनप्रतिपादनावसरे वाचक एव व्यञ्जको भवति। अतएवोक्तं 'तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः। यत्सोऽर्थान्तरयुक् ततः। अर्थोऽपि व्यज्जकस्तत्र सहकारितया मतः'। इति

यत्तु 'जैमनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः' इत्यत्र जुगुप्सितोऽर्थः वह्निकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात्। बाधन्श्चियस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकताया सर्वजनसिद्धत्वात्, व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोध-कत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोषः। मैवम् 'गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिब्याजात् ''सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः'' इत्यादौ वाच्यार्थान्वयबोधोपपादनायानुसरणीयेन यत्नेन नानार्थस्थलेऽपि बाधितार्थबोधस्योपपत्तिःस्यात्' इत्युक्तम् तत्र पृच्छ्यते कीदृशोऽनुसरणीयो यत्नः।

सौधमौलीनामर्केण सह मिलनस्यासम्भवात् समुपस्थिते बाधे सन्निकर्षसम्बन्धेन तत्सन्निकृष्टमात्रबोधोपपादनेनान्वययोग्यता जाता। जाते चान्वये सौधानामुन्नतत्वातिशयः प्रयोजनम्। जैमिनीयमलमित्यत्र जाते बाधे कीदृशी लक्षणा। लक्षणाभावे कुतोऽन्वयः। नहि व्यञ्जनयाऽन्वयः क्रियते। कथमुक्तं व्यक्तेस्तु वाधितार्थबोधकत्वम्'। प्रयोजनप्रतीतौ कुतो बाधितार्थबोधकता। बाधितार्थे लक्षणाया एव प्रसारः धर्मिग्राहकमानसिद्धः। नहि जैमिनीयमलसम्बद्धस्य कस्यचिदन्यपदार्थस्य धत्ते' इति क्रियया सहान्वयः।

बाधनिश्चयप्रतिबध्यताऽवच्छेदककोटावनाहार्यत्वस्येव शाब्दा-न्यत्वस्यापि निवेश्यत्वेऽपि न निस्तारः। नह्यत्रेष्टचमत्कारप्रयोजकता-ज्ञानाधीनेच्छामूलाहार्ययोग्यता लभ्यते। अन्वयानन्तरं जाते बाधे कथमभिधयैव बाधितार्थप्रतीतिः। चेन्मलधारणस्याभिधयेव शाब्द-बोधस्तर्हि कथं न दोषग्रस्तत्वम्।

अत उच्यते नात्राभिधा न च लक्षणा। अयं द्विजो जैमिनीयं रसनायां अलं धत्ते इति अभिधाबोधानन्तरं पर्यवसिते च वाक्यार्थे पुनः कथमयं सम्यगादिपदं विहायालं पदमत्रोपात्तं येन 'जैमिनीयम्' इति पदेन सहसन्धौ जाते जुगुप्सितार्थः प्रतीयते। अतः वक्तृवैशिष्ट्याद्

नायं जैमिनिशास्त्रज्ञः अपितु नाममात्रेण तच्छास्त्रज्ञ इति व्यज्यते। अतोऽत्र अर्थस्य शब्दगताभिधा न तु शब्दस्यार्थगता। नहि अलंपदस्य नानार्थकत्वं न च मलपदस्य, अपि तु जुगुप्सितार्थकमल-शब्दश्रवणमात्रेण बोद्ध्रा वक्तृसाहाय्येन व्यङ्‌यार्थो गृह्यते। अर्थस्यशब्दगतत्वेनाभिधाया, अत्र अर्थः मूलं तत्र शब्दस्य सहकारितेति सर्वथा शाब्दव्यञ्जनात्पृथगिति ध्यातव्यम्।

इत्थमर्थनिरूपितशब्दानुयोगिकत्वेन स्थिताया अभिधाया नानार्थकस्थले मूलत्वात् अभिधामूलशब्दव्यञ्जनाया विषयो द्वितीयोऽप्राकरणिकोऽर्थो व्यङ्‌ग्य एव मन्तव्यो नाभिधेयः। अन्यथा 'अलङ्कारोऽथवस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते। प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा। इत्युक्त्या शब्दशक्त्युद्भववस्तु-ध्वनेर्निरवकाशः प्रसज्येत। न निरवकाश इति न वक्तुं युज्यते। क्वापि शब्दशक्त्युत्थवस्तुध्वनेरदर्शनात्। ननु 'शनिरशनिश्च तमुच्चैनिहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्' इत्यत्र नास्ति नानार्थकत्वं वस्तुध्वनिश्चात्र सुस्थिर इति चेन्न। अशनिपदं शनिभिन्नवज्राभि धायकत्वात् श्लिष्टम्। शनिभिन्नस्य यस्य कस्यचिदपि त्वत्कोपपात्राय हननक्रियायामुपयोगे वाक्यार्थबोधस्य सम्भवात्। ननु शनिप्रतियोगिका-भावस्य हननक्रियायामुपयोगो न घटते भावस्यैव 'तत्क्रियोपयोगश्चेत् सत्यम् अत एवोच्यते 'विरुद्धावपिद्वौ त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत' इति वस्तु ध्वन्यते। शनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति अशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति इति द्वावपि तं निहतः, इति वाच्यार्थ एव। अशनिपदस्य शनिभिन्नपदार्थकत्वे संकेतवत्वे सत्येव विरुद्धौ द्वौ इत्यस्य ग्रहः। इत्थमभिधामूलशब्दशक्त्यैव द्वयोरर्थयोर्वज्रशनिभिन्नयोरुपस्थितौ सत्यामेव शनिवज्राभ्यामविरुद्धाभ्यामेककर्मकाभिहनने संवृत्ते प्रथमवाक्यार्थबोधे शनितद्भिन्नाशनिभ्यां विरुद्धभ्यामप्येककर्मकाभि-हननरूपत्वदनु- वर्तनार्थबोधाय व्यञ्जेनैव समर्था। अत उक्तं विरूद्धौ द्वावपि...... इति। अत्र वस्तुमात्रं व्यज्यते। न तु रसभावादिध्वनिरपि। चेदुपश्लोक्यनृपतेः प्रभावातिशयो व्यज्यतां नाम कथमत्र वस्तुमात्रत्वमिति तन्न प्रकृतग्रन्थविरोधात्। नह्यत्र कविनिष्ठ-नृपविषयकरतिः प्रधानतयाव्यञ्जयितुमिष्टा येन भावध्वनेः प्रसङ्गः स्यात् इति। अत्र केवलं वस्तुमात्रं ध्वन्यते। वस्तुव्यङ्ग्यमादाय भावोऽपि व्यज्यतां, नास्तिक्षतिः। उक्तन्च ध्वन्यालोके अत्रान्तरे कुसुमसमयमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाध-

वलादृहासो महाकाल: ''इत्यस्य लोचने अत्र ऋतुवर्णन-प्रस्तावनियन्त्रिता अभिधाशक्तय:। अतएव 'अवयवप्रसिद्धे: समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति समाकुर्वते महाकालप्रभृतय: शब्दा एकमेवार्थमभिधाय कृतकत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वनन व्यापारादेव शब्दशक्तिमूलाद्' इति। तत्र केचिन्मन्यन्ते यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभि-धाशक्तेरेव प्रतिपत्तु: नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्य: प्रतिपत्ति र्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्ग्यात्मकत्वं चेत्यविरूद्धम्''

एवमेव गुणीभूतब्यङ्यस्थलेऽपि 'मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्' इत्यत्रापि विषशब्दस्य जलगरलवाचकत्वात् प्रकृतजलदे प्रथमं विषार्थजलस्यान्वयादुद्दीपनविभावत्वेन च वियोगिनीमारणसमर्थत्वात् द्वितीयार्थस्य गरलस्य व्यङ्यत्वं सुतरां सिद्धम्। तच्च व्यङ्ग्यं भुजगरूपोपमाने समन्वेति। यतो हि जलदे भुजगारोपणाय साधर्म्यस्यान्वेषणदशायां शब्दसाधर्म्यमेवात्र चमत्कारि तेन विषत्वं साधर्म्यं भवति। अत: वाच्यरूपकालङ्कारनिष्पादनाय विषपदाभिव्यक्तगरलार्थस्यापि वाच्यायमानत्वम्। अत एवैक-पदोपात्तार्थानामभेदमादाय साधर्म्यं निष्पद्यते। द्वितीयार्थस्य व्यङ्ग्यत्वं न स्वीक्रियेत चेत् कथमत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं घटेत।

ननु विद्वन्मानसहंस इत्यत्रापि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं स्यात् मानसेनापि मानसरोवरस्य व्यङ्त्वेन ग्रहणादिति न वाच्यम् वैलक्षण्यात्। परम्परितरूपके एकस्यारोपस्यारोपणान्तरमुपायो भवति तद्विना परम्परितं न सिद्ध्यति। तत्र तु कृष्णत्वेन वियोगिनां भयकम्पा-द्युत्पादकत्वेन वा जलदभुजगयो रूपणस्य सति सिद्धत्वे गरलस्य व्यङ्ग्यत्वे नासीत्क्षति:, अत्र तु श्लेषस्थलवदर्थद्वयस्यापि वाच्यत्वमेव ग्राह्यम् यतो हि राजनि हंसारोपे संसर्गमर्यादया जाते आरोप-स्योपायत्वेनान्यस्याप्रसिद्धत्वात् शब्दोपात्तोपायस्यैवान्वेषणबुद्धौ वाच्य-त्वमवगाहतेऽपरार्थोऽपि। न च राजहंसयोरपि विवेचकत्वादिसाधर्म्यमूह्यम् व्यस्तरूपके साधर्म्यानिष्पादकस्य श्लिष्टस्य पदस्य समस्तत्वम् समस्तरूपके साधर्म्यनिष्पादकश्लिष्टपदस्य व्यस्तत्वमि त्युभयोर्वाच्य-व्यङ्ग्यस्थलयोर्भिन्नत्वादुभयोर्भिन्नत्वं मन्तव्यम्।

नानार्थकस्थलेऽभिधेयार्थबोधाय येषामन्यार्थनियन्त्रणत्वेन विशेषार्थस्मृतिहेतुत्वं ते संयोगादय: के किंल्लक्षणाश्चेति विचार्यमाणे काव्यप्रकाशे इत्थं निर्दिष्टम्।

संयोगो विप्रयोगश्च साहर्चयं विरोधिता।
अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:।।
सामर्थ्यमौचिती देश: कालो व्यक्ति: स्वरादय:।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव:।।

इत्युक्तदिशा 'सशङ्खचक्रो हरि' 'अशशङ्खचक्रो हरिरि'-त्युच्यते। 'रामलक्ष्मणावि'-ति दाशरथौ। 'रामार्जुनगतिस्तयोरि'-ति भार्गवकार्त्तवीर्ययो:। 'स्थाणुं भज भवच्छिद' इति हरे। 'सर्वं जानाति देव' इति युष्मदर्थे। 'कुपितो मकरध्वज' इति कामे। 'देवस्य पुरारातेरि'-ति शम्भौ। 'मधुना मत्त: कोकिल' इति वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखमि'-ति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वर' इति राजधा-नीरूपाद् देशाद् राजनि। 'चित्रभानुर्विभाती'-ति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। 'मित्रं भाती'-ति सुहृदि, 'मित्रो भाती'-ति रवौ। 'इन्द्रशत्रुरि'-त्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

आदिग्रहणात् -

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं।।
(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसै:।।)

इत्यादावभिनयादय:।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात् तस्या:, न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद्, अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापार:।

यथा-

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल -
वंशोन्नते: कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगते: परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभग: सततं करोऽभूत्।।

साहचर्यं विराधिता शब्दस्यान्यस्यसन्निधिरिति त्रयं विशेषतोऽ-भिधानियन्त्रकत्वेन विचारणीयमस्ति। साहचर्यं द्वन्द्वादिनोक्तयो र्नानार्थकयो:पदार्थयो: समानक्रियान्वयित्वम्। विरोधिता, विरोधिनोर्द्वयो: समानक्रियान्वयित्वम्। विरोधिता, विरोधिनोर्द्वयो: षष्ठीविभक्तिनिर्दिष्टयो: कारकेण सहान्वय:। तथा च शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरिति

व्यवस्थितान्यशब्दसन्निधेर्नानार्थकपदस्याभिधानियमनमिति प्राचीनैः संकेतितम्। तत्र रामलक्ष्मणौ इति साहचर्यस्य, रामार्जुनगतिस्तयोरिति विरोधितायाः, देवस्य पुरारातेरिति, शब्दस्यान्यस्य सन्निधेरुदाहरणानि निर्दिष्टानि।

अत्र छायातपौ रामरावणौ इति द्वन्द्वेनोपादीयते तदानीं प्रश्नः समुदैति यत् साहचर्यस्यंवा विरोधिताया वा कस्य नियामकत्वम् ? न साहचर्यस्य, एकस्यां क्रियायां छायातययोरनन्वयात्, न विरोधिताया, विरोधिनोर्नानार्थकयो कारकेऽन्वयाभावात्। उभयत्र द्वयोरपि पदार्थयोर्नानार्थकत्वमपेक्ष्यते। उभयत्र, आतपरावणयोरेकार्थकत्वात्। न च विरोधितायामेकस्य व्यवस्थितार्थकत्वं मत्वा विरोधिताया लक्षणान्तरं कृत्वा तदुदाहरणं प्राचीनविरुद्धं स्वीकर्तव्यम्। नानार्थकयोरुभयोरेकार्थे सहैवाभिधानियामकस्यान्यस्यानुपलब्धत्वात्। न च शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरुभयोर्नानार्थकयोरेकवाच्यसंसर्गित्वेनात्र नियामको मन्तव्यः, यतोहि अत्रप्राचीनै र्व्यवस्थितार्थकपदसान्निध्येन नानार्थस्य पदस्याभिधानियामकत्वं लक्षितम् देवस्य पुरारातेः इत्युदाहृतञ्च। पुरशब्दस्य नगरपुरदैत्ययोरर्थयोरभिधायकत्वेन व्यवस्थितपदारातिसन्निधानेन पुरपदस्य दैत्यार्थेऽभिधानियमनम् तथा च पुरारातेरित्यस्य पुरान्तकशम्भौ नियमनम्। न च, त्रिपुरशब्दाभिधेयो दैत्यः प्रसिद्धः न पुराभिधेय इति वक्तव्यम् पुरच्छिदं पुरान्तकमित्यादेः शिवस्तुतौ प्रयुक्तत्वात्। अतः व्यवस्थितार्थकारातिपदसन्निहितपुरपदार्थदैत्यावगत्यनन्तरं पुराराति पदस्य शम्भौ अभिधानियमनम्। त्रिपुराराते रित्युच्येत तदानीं विशेषार्थक शिवापरपर्यायस्यास्य लिङ्गवन्नियतार्थकत्वमेव स्यात्। न च नगरवाचिनः पुरस्याचेतनत्वेनात्रारातेः साक्षादन्वयासम्भवात् पुरपदस्य परपुरवासिषु लक्षणाऽङ्गीकर्तव्या, अभिधानिरूप्यस्थले लक्षणाऽङ्गीकारोऽनुचितः अतउक्तम् 'देवस्य पुरारातेः इति' शम्भौ। देवस्यइत्यस्यभिधानियमनं शम्भौ यदुच्यते टीकाकारैस्तदनर्हम्। पुराराति पदस्याप्यव्यवस्थितार्थत्वात्। त्रिपुरारातिपदस्यैव व्यवस्थितार्थत्वात्।

यत्तु शब्दान्तरसन्निधेर्नानार्थकपदैकवाच्यसंसर्गित्वेन नानार्थकयोः समभिव्याहारलक्षणंकृत्वा नानार्थपदानां समभिव्याहारमात्रेण परस्परसंसर्गियोग्यपदार्थप्रतिपादनेन, प्रकृताप्रकृतयोरुभयत्र पदार्थ वाक्यार्थयोरभिधानियमनमप्पय्यदीक्षितैरुक्तं तत् सर्वथा प्राचीनविरुद्धम्। केवलं शब्दान्तरसन्निधेरेतद्विलक्षणं लक्षणं तत् प्रकृताप्रकृतार्थयो-

रुभयोरभिधयैव ग्रहणाय कृतम्। तद्दिशा परस्परान्वययोग्ययोः प्रकृतार्थाप्रकृतार्थयोर्वाक्यार्थबोधायापि समभिव्याहाररूपशब्दान्तरसन्निधिर्नियामकः क्षमो भविष्यति यतो हि यत्राभिधानियामकता तत्र सर्वत्रप्रकृतार्थत्वमिति प्राचीनैरपि मन्यते। इत्थमुभयत्रप्राकरणिकत्वमप्पय्यदीक्षितैः कल्पितम्। तथाच

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिःकरैः॥

इत्यादिपद्ये चन्द्रोदयवर्णनप्रस्तावे प्रकृतचन्द्रोदयसम्बन्धि वाक्यार्थोऽभिधया तथा च भूपत्यभ्युदयादिविशिष्टोऽप्राकृतार्थो व्यञ्जनयेति प्राचीनैस्ताभिस्ताभिर्युक्तिभिः स्वीकृतं, तन्निरस्य शब्दान्तर सन्निधिरूपनियामकसत्वादत्रोभावपि वाक्यार्थौ प्रकृतावेव मत्वोभयत्राभिधा व्यापारः स्वीक्रियतामिति दीक्षिताभिप्रायः।

ममेत्थं प्रतिभाति। संयोगादिषु नियामकेषु मध्ये परिगणितः शब्दान्तरसन्निधिरप्यन्यवद्नानार्थकस्थले प्रकृतार्थेऽभिधानियामकत्वं प्राचीनवद् भवद्भिरपि मन्यते। किन्तु संयोगादिना तु केवलं प्रकृतेऽर्थे एकस्मिन्नेव वाक्यार्थेऽभिधानियामकत्वं शब्दान्तरसन्निधिना तु एकवाच्यान्वययोग्यपदार्थोपस्थापनद्वारा नैकेषु वाक्यार्थेषु अभिधानियामकत्वं यत् स्वीक्रियते तत्तु वैषम्यम् संयोगादिभ्यः। वाक्यार्थान्तरबोधेऽपि नियामकत्वमिति वदतोव्याघातः। ननु येन ध्वस्तमनोभवेन .... इति पद्ये उभयोः प्रकृतर्थयोः कथमभिधा प्रसरतीति, चेत् शब्दान्तरसन्निधेर्नियामकत्वं न स्वीक्रियते इति न वक्तव्यम् वस्तुतस्तत्र संयोगादिषु कस्यापि प्रवृत्तिनास्तीति प्राचीनैर्निरुक्तम्, अतएवाभिधाया प्रसरणम्, भवद्भिस्तु सन्निधेर्नियामकत्वं स्वीक्रियते उभयत्राभिधाप्रवृत्तिरपि दर्श्यते इति विरुद्धम्। अतः प्राचीनोक्तशब्दान्तरसन्निधेरेवोदाहरणं लक्षणं च युक्तम् इतिभाति।

ननु 'व्यालो दानेन राजते' इत्यत्र कथमभिधानियमनमिति दुष्टगजमदराजिपदार्थयोरेवान्वययोग्ययोरुपस्थितिर्न तु दातृत्वधर्मसर्पयोरिति चेत् पदार्थोपस्थितिवाक्यार्थयोःसमानाकाराकारत्वेन योग्यतया ग्रहणात् वाक्यार्थानन्वययोग्यार्थस्योपस्थितिरेव न भवति अभिधयेति का हानिः ? चेद् व्यालपदेन सर्पोपस्थितिः स्वीक्रियते तदानीं दानपदस्य दोऽवखण्डने धातोर्निषादनं विधीयताम्, तथा दंशनसमर्थः सर्पो राजते इति वाक्यार्थोऽपि जायताम्। किन्तूभयत्राभिधास्वीकारे नियामकं न स्वीक्रियताम्, नियामकत्वस्वीकारे च

उभयत्राभिधा न स्वीक्रियताम्, का हानिः। उभयत्र वाक्यार्थबोधस्तु भविष्यत्येव। "कथञ्चास्य संग्रहः, दुष्टगजमदजलयोरेवोभिधा-नियमनमिति सर्वानुभवसिद्धः" कथं तत्रभवद्भिरुच्यते।

यत्तु विरोधितोदाहरणे उभयोर्नानार्थकयोःपदयोः स्थाने अन्यतरस्य व्यवस्थितार्थत्वमन्योन्याश्रयदोषपरिहारायोच्यते तथा च रामार्जुन-गतिस्तयोः' इत्यस्य स्थाने छायातपौ रामरावणाविति उदाह्रियेते तदपि न। प्रक्रान्तस्य विरोधिनोस्तयोर्विरोधवशात् नानार्थकयोर्द्वयोः सहैवैकस्मिन्नर्थेऽभिधाया नियमनात् भार्गवकार्तवीर्ययोरर्थयोरवगति-र्भवति कुत्रान्योन्याश्रयः। यथाऽस्मिन् पद्ये मदीये -

आजन्मनो गूढविरूढवैरयोः
कौन्तेयदुर्योधनयोरपीशयोः।
रामार्जुनीया गतिरीदृशोर्ध्रुवं
निरूप्यते लोकपुराणवादिभिः॥

अत्र भीमदुर्योधनयोः प्रक्रान्तयोर्विरोधवशाद् रामार्जुनपदयोर्भार्गव कार्तवीर्यार्थयोरभिधा युगपदुनियम्यते।

श्रीमदप्पय्यदीक्षिता वृद्धैराचार्यैरस्फुटीकृतान् विशेषान् दर्शयितुं रूटिर्योगो योगरूढिश्च त्रिधा अभिधानिरूपिता। तासु रूढिः मणि-नूपुर-मौक्तिकेषु, क्रमेण अव्यक्तयोगो निर्योगो योगाभासश्च तद्भेदाः प्राचीनोक्ता उदाहृताः। चतुर्थी रूढिस्तु त्वच्चरणं सकृत् प्रपद्य मुक्तानां जनानामपेक्षया नित्यं भजतां मणिनूपुरमौक्तिकानाम-तिमुक्तलक्ष्मीर्युक्तैवेति वाक्यार्थे, अतिमुक्तलक्ष्मीर्वासन्तीमुकुलशोभैव मुक्तातिशायिनीसम्पत् "इत्युभयो रूढियोगयोरर्थयोरभेदाध्यवसायस्य विवक्षितत्वेऽपि वासन्तीगतत्वेन अतिमुक्तशब्दः रूढिरेवेति दर्शितम्।

रूढ्यादिषु क्वचिद् रूढपदेऽपि योगार्थः क्वचित् योगपदेऽपि रूढ्यर्थः क्वचिद्योगरूढपदेऽपि केवलं योगार्थः, क्वचित्केवलं रूढ्यर्थः क्वचिच्च योगरूढपदसत्वेऽपि पुनः रूढपदोपादानं इति वैलक्षण्यमभि-धासु दृश्यते। किन्त्वत्र रूढ्यादीनां केवलत्वमेव यथालक्षणं मन्तव्यम्।

नुन कथं रूढपदे योगार्थस्य सत्वेऽपि केवलं रूढिः, योगपदे रूढ्यर्थस्य सत्वेऽपि केवलं योगः, योगरूढपदे केवलं योगार्थस्य केवलं रूढ्यर्थस्य सत्वेऽपि योगरूढपदमेव व्यवहर्तुंशक्यते इति न वक्तव्यम्। यतोहि यथाप्रकृतार्थं तेषां केवलत्वस्य विवक्षितत्वेऽ-प्रकृततयाऽन्यस्य विवक्षितत्वेऽविवक्षितत्वे वा नास्ति वक्ष्यमाणरीत्या क्षतिः, रूढ्यादिषु प्रत्येकं प्रतिलक्षणव्याप्तत्वात्।

रूढपदे योगार्थस्याभासेऽपि केवलरूढिर्यथा-

पदजलजसमीपं स्थातुकामः तपस्यन्
नियमधृततृणान्तर्मण्डपः श्वापदोऽम्ब।
तव वहनमवाप्यागामिजन्मन्यनन्त
बलविभवमयस्ते भान् मणीमण्डपस्थः॥

हे अम्ब ! श्वापदः श्वा सिंहसदृशस्तव चरणकमलमवाप्तुं सुदृढ तृणनिर्मितमण्डपाश्रितः तपस्यन् आगामिनि जन्मनि तव वाहनं भूत्वा अपरिमेयबलविभवसम्पन्नः शोभमानो मणिद्वीपमण्डपस्थोऽस्ति।

नियमधृततृणान्तर्मण्डपः इत्यत्र यथानियमं गृहीततृणमय पात्रान्तर्मण्डपायीति मण्डंपिबतीति मण्डपायी, योगार्थस्तपस्या-नुकूलत्वेन विवक्षितोऽपि न योगरूढः अन्वयेनैकार्थस्यानुल्लसितत्वात्। उभयोः रूढि-योगार्थयो र्भिन्नत्वेनाभेदाध्यवसायत्वं स्वीकर्तुं शक्यते। अतोऽत्र तृणनिर्मितमण्डपार्थे रूढिः केवलैव। जयदेवेन योगाभास-रूढिरत्रनिर्दिष्टा। यथा –

अव्यक्तयोगनिर्योगयोगाभासै स्त्रिधादिमः।
ते च वृक्षादि भूवादि मण्डपाद्या यथाक्रमम्॥

व्याख्या मत्कृतटीकायां द्रष्टव्यम्।

योगपदे रूढ्यर्थस्य सत्वेऽपि केवलं योगार्थान्वयाभासो यथा ममैव –

गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलिं महेशं
अचरचरजगत्सूशोभिपार्श्वाङ्कदेवम्।
क इह गतमतिर्वा प्राप्यचिन्तामणिं यो,
भवसुखमभिलष्येत् गुञ्जयोप्तावतंसम्।

अत्र चन्द्रमौलिमहेशपदयोः शिवापरपर्याययो रूढ्या समुदायार्थ-प्रतिभासेऽपि गजमुखविशेषणत्वेन तस्य योग एव। शिरसि चन्द्रा-वधानेन भगवतो गजमुखस्य सकलसुखशान्तिसुधाप्रकाशादिदातृत्वं भक्तेषु प्रत्ययार्थं योगार्थत्वेन विवक्षितस्य चन्द्रमौल्यादिपदस्य रूढ्या भगवतः शिवस्य सम्बन्धिवाक्यार्थोऽपि विवक्षितः सन् अभेदा-ध्यवसायेन स्थितिः। भगवच्छिवगणपत्योः पितापुत्रयोरभेप्रतीतिश्च फलम्। तथापि गणपतिपक्षे केवलं योग एव। नात्र योगरूढिः भिन्नत्वेनानन्वयरूपार्थस्योल्लासात्।

पौनरुक्त्यपरिहाराययोगरूढपदे केवलं योगार्थस्यान्वयाभासो यथा-

यदि भवति सहायस्ते प्रसन्नो वसंतः,

मिलदलिरवकांतालंक्वणन्नूपुराग्रः।
तव कुसुमशराग्रे काम ! नेशः पिनाकी,
ज्वलदलिकदृशोग्रे यस्त्रिनेत्रः करालः।।

अत्र पिनाकी उग्रः त्रिनेत्र इति पदत्रयं शिवस्यपर्यायः, तत्र पुनरुक्तिदोषोल्लासवारणाय, पिनाकीउग्रपदयोः केवलं योगार्थ मात्रपरत्वं तदानी मेवान्वययोग्यत्वम्। अत्यन्तमेवोग्रः पिनाकहस्तोऽपि शिवस्तव पुरः योद्धुमसमर्थ इतिवाक्यार्थोऽभीष्ट।

क्वचिदेकस्यैव प्रयुक्तस्य योगरूढपदस्य केवलमवयवार्थे विश्रान्तिः यथा -

अमृतसुरभिमण्यश्वादिसिन्ध्वब्जभूय-
स्स्वयमनितरसौभाग्योऽब्ज एको ललाटे।
विगलितगुणकान्ति क्षीणसद्भासयाऽपि
गिरिश ! तवगृहीतो राजतीतिप्रणम्यः।।

अत्र सिन्धुजलजातेषु अमृतसुरभिमण्यादिषु एक एवाब्जश्चन्द्रः (अब्जोजैवास्तृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः) क्षीणकलोऽपि त्वद्गृहीतो लोकप्रणम्यः सन् राजतीति वाक्यार्थे सिन्ध्वब्जपदं केवलं जलजातरूपार्थं प्रतिपादयति।

क्वचिद् योगरूढस्य केवलं समुदायार्थे विश्रान्तिः - यथा-

नाभ्युद्गताम्भोजनिबद्धपद्मासनो विधिर्मीलितनेत्रपङ्क्तिः।
जिघांसुमालोक्य मधुं भियो यां मुक्त्यै समस्तौत् शरणं तदेकम्।

अत्र 'अम्भोज' पदं योगरूढं, रूढ्या केवलं पद्मरूपार्थं प्रतिपादयति। 'अम्भसोजायते' इति योगार्थस्य, नाभेर्जायमानस्य पद्मस्य कृते, नान्वेति इति केवलं रूढार्थोऽत्र विवक्षितः, इत्यादिकमत्यन्तमेव संक्षेपेण चन्द्रालोके प्रकाशितं दृश्यते।

केवलं यौगिकपदेऽपि रूढ्यर्थसत्वेऽपि, केवलंयोगार्थग्रहणाय, यौगिकस्य संभिन्नाख्यो भेदो दर्शितः। यथा-

शुद्धतन्मूलसंभिन्नप्रभेदैर्यौगिकस्त्रिधा।
ते च भ्रान्ति-स्फुरत्कान्ति कौन्तेयादिस्वरूपिणः।।

अत्र 'कौन्तेय' पदं यौगिकं, केवलमर्जुनार्थे रूढिमात्रम्। एवमेव योगरूढपदस्य केवलावयवार्थग्रहणाय नीरधि भूरुहादि पदं दर्शितम् क्वचिच्च केवलसमुदायार्थग्रहणाय, क्षीरनीरधिः, आकाशपङ्कजादिरिति दर्शितम्। यथा –

तन्मिश्रोऽन्योन्यसामान्यविशेष परिवर्तनात्

नीरधिः पङ्कजः सौधं सागरो भूरूहःशशी।।
क्षीरनीरधिराकाशपङ्कजं तेन सिद्ध्यतीति।

एतत्सर्व श्रीमदप्पय्यदीक्षितैः स्ववृत्तिवार्तिके प्रदर्शितम् विशेषेण व्याख्यानं च कृतम्।

अत्रेदं विचारणीयम्– रूढियोगयोगरूढित्रितयाभिधोदाहरणत्वेन -पाचकादि-पङ्कजादि-निर्दिष्टानि सन्ति। एतेषु क्रमेण केवल समुदायशक्तिः, केवलावयवार्थशक्तिः, तथा च उभयोः संकरशक्तिश्चास्ति। एतेष्वेव क्वचित् मण्डं पिबतीति मण्डपोऽवयवार्थोऽपि दृश्यते तथापि न योगस्य प्रवृत्तिः। क्वचिद् योगस्थले समुदायार्थस्य प्रतिभासेऽपि न रूढिः, गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलि' इत्यत्र शिववाचिनश्चन्द्रमौलिपदस्य न रूढ्यर्थग्रहः। अन्यथा यत्केवलं रूढियोगाभ्यामुदाहृतं, तत्सर्वं योगरूढेर्विषयोऽवशिष्येत। कथं नोभयत्र योगरूढिरेवस्वीकृतेति जिज्ञासायाम् रूढिधातुप्रत्ययशक्ति-बोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोल्लसितैकस्मिन् पदार्थे प्रत्यायकत्वं योगरूढिः यत्र, रूढिशक्तिबोध्यपदार्थो भिन्नो धातु- प्रत्ययशक्तिबोध्यः पदार्थो भिन्नः, अन्वयेनोल्लासाभावस्तत्र न योगरूढिः अपितु प्रकृतार्थान्वयार्हो योऽर्थः स केवलं योगार्थः केवलरूढ्यर्थः वा स्वीकार्यः। यः खलु तदरिक्तोऽर्थः स एकपदोपात्तत्वेन तदर्थेन सहाभेदमवश्यमध्यवस्यति। अभेदाध्यव- सायार्थमभिधां विहाय व्यञ्जना समुपास्यत इति भिन्न-भिन्न वृत्तिगम्यत्वे नास्ति कश्चन दोषः।

यच्च योगरूढस्थले पौनरुक्त्येन, पिनाकी त्रिनेत्रदिपदानां सहैवोपादानं तत्र प्रकृतार्थानुकूलपदार्थमात्रबोधायावयवार्थमात्रबोधे योगरूढपदस्य लक्षणा कार्या। यतो हि योगरूढपदस्य रूढ्यर्थे योगार्थस्यान्वयात् प्राधान्येन रूढ्यर्थस्यैव सत्वात् 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' इतिन्यायानुकूलत्वादभिधया न क्वापि केवलस्य योगार्थस्य प्रतीति र्योगरूढपदेन कर्तुं शक्यते, इत्थं यत्र यत्र रूढ्यर्थमादाय पौनरूक्त्यापत्तिस्तत्र सर्वत्र लक्षणया योगार्थमात्रप्रतिपादने न काचित् क्षतिः।

यत्र तु एकेनैव पदेन योगरूढेन अन्वितरूढ्यर्थप्रधानेन पदार्थान्तरेण सहान्वये जायमानेऽपि योगार्थः पृथक्तया प्राधान्येन विवक्षितस्तत्र केवलं योगार्थस्य कृते व्यञ्जना स्वीकार्या। न त्वभिधयैव अन्वितयोगरूढ्यर्थबोधानन्तरं पुनः योगार्थमात्रप्रतिपादनायाभिधायाएव प्रसारः स्वीकर्तुं शक्यते। शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः इति

न्यायस्य जागरूकत्वात्। यथा "पुष्पधन्वा विजयते जगत् त्वत्करूणावशात्" इत्यत्र पुष्पधनुर्धरत्वविशिष्टमदनोपस्थित्यनन्तरं मदनशस्त्रस्यासारत्वादिबोधनाय केवलं 'पुष्पं धनुर्यस्य स' इति योगार्थोऽनुसंधीयते तदर्थं न अभिधा प्रसरति। तत्र व्यञ्जनाया एवं सामर्थ्यात्।

यत्र तु योगरूढस्यैकस्यैव पदस्य प्रयोगे केवलं क्वचिद् योगार्थत्वेनैवान्वयः क्वचिद् रूढ्यर्थत्वेन पदार्थान्वयः अन्तरेण सह जायते तत्र का गतिरिति चिन्तनीया।

योगार्थनिरपेक्षरूढ्यर्थमात्रान्वये कदाचित् योगाद रूढिर्बलीयसीति न्यायस्य यथा योगार्थरूढ्यर्थयोः पृथक्पृथगन्वययोग्ययोर्मध्ये रूढ्यर्थस्य बलीयस्त्वाद् रूढ्यर्थेन वाक्यार्थान्वयः सम्पाद्यते। चेद् विवक्षितो योगार्थस्तदानी वृत्यन्तरं कल्प्यते तथैवात्रापि रूढ्यर्थेन वाक्यार्थान्वयो जायेत योगार्थस्याविवक्षितत्वात् तत्र न वृत्यन्तरं कल्प्येत। भवतु अभिधयैव योगरूढपदस्य केवलं रूढ्यर्थबोधः पदार्थान्वयश्च। किन्तु योगरूढपदस्य यत्र केवलयोगार्थमात्रमन्वये विवक्षितंतत्र का गतिः। नात्र पुष्पध्वन्वाविजयते इत्यादिवत् पदार्थान्वयानन्तरं शस्त्रनिःसारत्वादिबोधाय योगार्थस्य व्यञ्जनालभ्यत्वं स्वीक्रियते तथा अत्र स्वीकर्तुं शक्यते। अत्र परस्परं पदार्थान्वयायैव योगार्थस्यापेक्षा भवति। अतः वाक्यार्थे योगार्थमात्रस्यान्वयायापि लक्षणास्वीकार्या।

यद्यपि नैयायिका योगरूढपदस्य वाक्यार्थान्वयाय यत्र केवलं रूढ्यर्थो विवक्षितस्तत्रापि लक्षणैव स्वीक्रियते, योगार्थस्य कृते तु स्वीक्रियत एव। तेषामयमभिप्रायः-

योगरूढस्य पङ्कजादिशब्दस्य पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्ट पद्मत्वाश्रयबोधकस्य विशिष्टार्थकस्यैव पदार्थान्तरेण सहान्वयः अभिधयेति नियमः, स्वतन्त्रतयान्वयार्थं पद्मत्वाश्रयमात्रस्य पङ्कजनिकर्तृत्वाश्रयमात्रस्य चोपस्थितये लक्षणैव स्वीकार्या।

अत एतेषामनुसारेण पूर्वोक्तावयवार्थमात्रान्वयस्थले अमृतसुरभिमण्यश्वादिसिन्ध्वब्जभूयस्त्विति पद्ये

तथा च केवलसमुदायार्थमात्रान्वयस्थले-

'नाम्युद्गताम्भोजनिबद्ध .... पद्ये क्रमेण जलजातमात्रार्थे पद्ममात्रार्थे च लक्षणवैति।

लक्षणावृत्तिः

साहित्यशास्त्रे तिस्त्रो वृत्तयः प्रसिद्धा, अभिधा लक्षणा व्यञ्जनेति। चतुर्थी तात्पर्याख्यापि 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' 'तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः' 'इत्याद्युक्तिभिर्मम्मटेन निर्दिष्टा। इत्थं चतसृषु वृत्तिषु सतीषु शब्दार्थयोः साक्षात् संकेतात्मसम्बन्धः अभिधा, सान्तरार्थसम्बन्धो लक्षणा, आकाङक्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां परस्परं सम्बन्धस्तात्पर्यार्थोऽपदार्थः वाक्यार्थः, शाब्दबोधाविषयीभूतस्य पर्यवसिते वाक्यार्थे जायमानस्यार्थस्य अथवा वाक्यार्थं पर्यवसयितुं गुणीभूतत्वेन वाच्याद्यर्थभिन्नस्यार्थस्य प्रतिपादनाय या वृत्तिर्गृह्यते सा व्यञ्जना।

तत्र लक्षणालक्षणं वाग्देवतावतारत्वेन विद्वत्सु ख्यातेनाचार्यमम्मटेनेत्थं न्यदर्शि ।

मुख्यार्थबाधे, तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। इति
शक्यसम्बन्धो लक्षणेति पण्डितराजादिना।

लक्षणेयं शुद्धागौणीम्यां द्विधा। शुद्धा चोपादनलक्षणभेदाभ्यां द्विधा भूत्वा सारोपासाध्यवसानाभ्यां सह चतुर्धा, गौणी च सारोपासाध्यवसानाभ्यां द्विधेति षड्विधा। इयं च प्रयोजनवती। रूढिश्चैकविधेति मम्मटः। शुद्धागौणीभ्यां रूढिरपि द्विविधेति दीक्षितपण्डितराजादयः। साहित्यदर्पणकारास्तु लक्षणायाः बहुविधत्वं कल्पितं किन्तु तत्र क्षोदक्षमं किमपि वस्तु न प्रतीयते। उदाहरणानि तु- शुद्धालक्षणलक्षणायाः 'गङ्गायां घोषः', शुद्धोपादानलक्षणायाः- 'कुन्ताः प्रविशन्ति', शुद्धासारोपाया 'आयुर्घृतम्' शुद्धासाध्यवसानाया 'आयुरेवेदम्' गौणीसारोपाया 'गौर्वाहीकः', गौणीसाध्यवसानाया, 'गौरेवेदम्',। इति रुढिगतशुद्धाया 'नीलोघटः' रूढिगतगौण्यास्तु "धर्मस्यायमनुकूलः" इत्यादिप्रयोगाः लभ्यन्ते। तथा च लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्यविवक्षतवाच्यध्वनौ-

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्।।'

इत्युदाहृतम्।

एतेषां समेषामुदाहरणानां संग्रहाय लक्षणाया लक्षणमभीष्टम्। तत्र विचारणायाम्-

'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति लघुभूतं लक्षणं विहाय मम्मटेन

कथं गुरूभूतं 'मुख्यार्थबाधं ....' इति लक्षणं निर्दिष्टम्। मम्मटस्य वैयाकरणशिरोमणेः प्रसिद्धिरस्ति 'यदर्धमात्रालाघवमात्रेणोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः इति सूक्तेश्चारितार्थ्याय। मुख्यार्थयोगो लक्षणायाः शरीरञ्चेत्, लक्षणायाः कारणकोटौ कथं तस्य न्यासः। न खलु कार्यं कारणकोटावपि स्थितं स्वीक्रियते प्रागभावप्रतियोगित्व-रूपकार्यत्वस्य हानेः। कार्यतावच्छेदक-कारणतावच्छेदकयोरैक्याच्च। अतः लक्षणाया हेतुत्रयं मुख्यार्थबाधः मुख्यार्थयोगः रूढिप्रयोजयोरेकतरञ्चेति। स्वरूपञ्च 'अन्योऽर्थोलक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिताक्रिया' इति। अत्र 'यत्'पदस्य ''यतः सम्बन्धात्'' अर्थो लक्ष्यते स सम्बन्धः लक्षणेति यैर्व्याख्यायते तदसाधु। यतोहि मुख्यार्थसम्बन्धस्य हेतुकोटौ सत्वेऽपि स्वरूपकोटौ निवेशोऽनुचितः। अतः 'यत्'पदं प्रतिपत्तिपरमपि अत्र न ग्राह्यम्, यच्च प्राचीनैर्लक्षितम् 'शक्यसम्बन्धेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणेति स्वीक्रियते तत्रापि प्रतिपत्तेः प्रतिपत्तिहेत्वर्थो ग्राह्यः यतो हि न वृत्तिः प्रतिपत्तिरूपा (ज्ञानरूपा) अपि तु प्रतिपत्तेर्हेतुरूपेति।

अतः 'यत्' इति यया व्याख्येयम्। उक्तञ्च प्रदीपे– यत्तु यदित्यस्य यत इत्यर्थकतया सम्बन्धपरतयैव सूत्रव्याख्यानं तदयुक्तम्, 'नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा' इत्यत्र मुख्यार्थबाधा-दित्रयं हेतुरिति व्याख्यानविरोधात्'। इति। (पृ.३८)

इत्थं लक्षणाया हेतौ, त्रितयस्य निवेशेऽपि केवलं मुख्यार्थ-बाध एव लक्षणायां हेतुत्वस्वीकारे नास्ति किञ्चिद्बीजम्, तर्हि कथं कारिकावल्यां ''लक्षणाशक्यसम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तितः' इति लक्षणमासूत्र्य गङ्गायां घोषः इत्यादौ गङ्गापदस्य प्रवाहरूपे शक्यार्थे अन्वयानुपपत्तिस्तात्यर्यानुपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोधः। परन्तु यद्यन्वयानुपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा ''यष्टीः प्रवेशय'' काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यत्र लक्षणा न स्यात्। सर्वतोभावेन दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वे तात्पर्यानुपत्तिर्लक्षणाबीजं, नान्वयानुपत्ति'' रिति उक्तम्। नागोजिभट्टैरपि परमलघुमञ्जूषायां शक्यसम्बन्धो लक्षणा, अन्वयाद्यनुपपत्तिप्रतिसंधानं च लक्षणबीजम्, वस्तुतस्तु तात्पर्या-नुपपत्तिप्रतिसंधानमेव लक्षणाबीजम् इति निर्दिष्टम्।

एतत्सर्वं आचार्यमम्मटस्य 'मुख्यार्थबाधेति' लक्षणे केवलमन्वया-नुपपत्तिमेव स्वीकुर्वतामाचार्याणां वचनम्, वस्तुतस्तल्लक्षणान्तः-क्षोदक्षमतत्वानाग्रहणमूलम्। तात्पर्यानुपपत्तिपदेन कीदृशोऽर्थो भवदभीष्टः।

तात्पर्यस्य तात्पर्यार्थरूपशाब्दार्थः, अथवा प्रयोजनम्। आद्यश्चेदन्वया-नुपपत्तिरूपलक्षणालक्ष्यार्थ एव तात्पर्यार्थः। प्रयोजनरूपञ्चेत् तर्हि न प्रयोजनानुपत्तिर्लक्षणाबीजमिति वक्तुं शक्यते, यतो हि प्रयोजनमुद्दिश्यैव लक्षणोपास्यते। ननु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्रान्वयाननुपत्यनन्तरं वक्तुरिदं न तात्पर्यमपि तु सर्वेभ्यो दध्युपघातकेभ्यो दधिरक्षणमिष्टमिति तात्पर्यानुपत्तिरिति ? तत्र पृच्छामि, यद् वक्तुरिदमेव तात्पर्यमिति केनोपायेन तत्रभवद्भिर्निश्चितम्। न वक्तृबोद्धव्यादिसाहाय्येन किमपि वस्त्वर्थ इयत्तया निश्चेतुं शक्यते। वक्तृबोद्धव्यादिः केवलमन्यार्थबोधने साहाय्यमाचरन्ति न तु नियन्त्रणम्। नियन्त्रकत्वं तु संयोगादिना नानार्थस्थले एव स्वीकृतम्। नात्र नानार्थत्वं येन प्रकरणादिना कश्चनाप्यर्थो नियन्तुं शक्येत। एवमेव 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्रापि शैत्यपावनात्वादितात्पर्यसिद्ध्यर्थमेव गङ्गापदस्य लाक्षणिकत्वं स्वीकृतं न घोषपदस्येति तात्पर्यानुपपत्तिरेवेति, वचो सर्वथा निर्दुष्टम्। अन्वय- बोधमात्रक्षीणायां वृत्तौ वृत्यन्तेरण तात्पर्यरूपप्रयोजनसिद्धिरिति घण्टापथः। वस्तुतो यदा घोषपदस्य मीने लक्षणा क्रियेत तदानीं रूढिप्रयोजनयोरन्यतरहेतोरभावाद् लक्षणैव न प्रसरति, अतः गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा भवति, तथा च तीरप्रतियोगिकघोषानुयोगिकः शाब्द- बोधश्च भवति। गङ्गात्वेन तीरोपस्थितावपि पदार्थसमन्वये नास्ति गङ्गात्वस्योपयोगित्वमिति नात्रोपादानलक्षणाया अवसरः। लक्षणायां समानप्रकारकत्वा-नुभवविलक्षणलाक्षणिकशाब्दबोधोपपत्तेः।

यत् तात्पर्यं भवद्भिरुच्यते तदेव प्रयोजनपदेन, 'प्रयोजनात्' इति मम्मटेनोक्तम्, अन्यद् वा ? चेदेकमेव, तदानीं प्रयोजनानुपत्ति नं लक्षणाबीजं वक्तुं शक्यते प्रयोजमुद्दिश्यैव लक्षणोपास्यते। प्रयोजनातिरिक्तं चेत् तर्हि किं तात्पर्यार्थात्मपदार्थसमन्वयरूपं, वा तद्भिन्नम्।

पदार्थसमन्वयानुपत्तिश्चेत् नास्ति दोषः, शाब्दबोधे, मुख्यार्थ-बाधस्यापि तद्रूपादेव। किन्तु न पदार्थसमन्वयरूपं तात्पर्यं भवदनुकूलं यतो हि काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यत्र पदार्थसमन्वयरूप-तात्पर्यस्यानुपपत्तेरभावात्, कथमत्र तात्पर्यानुपत्तिर्लक्षणायां हेतुरिति भवद्भिर्वक्तुं शक्यते। न पदार्थान्वयरूपमपि तु वक्तुरभिप्रायरूपमिति चेत् शाब्दबोधे वक्तुरयमेवाभिप्रायः इति वेदितुं शब्दानुपादानेऽपि क उपायः। चेत् वक्तृबोद्धव्यादिसाहाय्येन, सर्वतोभावेन दधिरक्षणं

वक्तुरभिप्रेतमिति काकंप्रतियोगिकदधिरक्षणानयपोगिकशाब्दबोधानन्तरं बोद्धद्धाधिगम्यते तर्हि कथं लक्षणाकोटौ तस्य सन्निविष्टः। ननु पूर्वत एव प्रकरणादिना सर्वदध्युपघातकेभ्यः दधिरक्षणं प्रवृत्तं तत्स्थाने काकेभ्यः इति प्रयुक्तम्। अतः बाध इति अस्तु, किन्तु बाधोऽयं शब्दश्रुतमात्रेण जातान्वयबाधाद् "गङ्गायां घोषः" इत्यादिस्थलीयाद् भिन्न एव। एको बाधस्तु श्रुतमात्रेणापरस्तु तात्पर्यपर्यालोचनयेति स्पष्टमुभयोर्भेदः। कथं तावद् भिन्नविषयत्वे स्थितयोरुभयोर्बाधयोरैक्यम्।

अतः मुख्यार्थबाधे, मुख्यार्थयोगे, रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्मिन् हेतौ सत्वे लक्षणेति, वचसा, मुख्यार्थबाधप्रयोजनयोः, गङ्गायां घोषः इत्यत्र, मुख्यर्थयोगप्रयोजनयोः 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यत्र, हेतुत्वेन स्वीकारे उभयोरनेनैवैकेन लक्षणेन समन्वयः, अतः लक्षणासामान्य-लक्षणमिदम् इति चेत्? तदपि न, हेतुत्रितयस्येत्युक्तिरनुपपन्ना स्यात्। द्वयोरेव हेतुत्वात्। मुख्यार्थबाधमुख्यार्थयोगयोरन्योन्य-विशेषणतया शाब्दबोधे कृते, यदा मुख्यार्थबाधो जातः, तदनन्तरं मुख्यार्थयोगस्तथासति प्रयोजनसत्वे लक्षणेति, तदा गङ्गायां घोषः इत्युदाहरणसङ्गतिः। यतः श्रुतमात्रेणान्वयबाधे जाते पुनः प्रयोजनमश्रित्य मुख्यार्थयोगे सति मुख्यार्थयुक्तोर्थो यया लक्ष्यते सा लक्षेणति, अर्थ आयातः। अत्र मुख्यार्थयोग इत्यस्यार्थः मुख्यार्थतावच्छेदकयोगः। यतो हि मुख्यया वृत्या तत्प्रकारकतद्विशेष्यकपदार्थोपस्थितिर्भवति अतः मुख्यार्थकोटौ तदवच्छेदकस्य सत्ताऽस्त्येव। "मुख्यार्थ-सम्बद्धस्तत्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः" इति हेमचन्द्राचार्येणोट्टङ्कितम्। पण्डितराजेनाऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकतया लक्ष्यभानस्य स्वीकारात्" इत्युक्तम्।

तथा च - काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र मुख्यार्थयोगे जाते सति, पश्चात् वक्त्रादिवैशिष्ट्यात् मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थता-वच्छेदकत्वेन मुख्यार्थबाध इत्यर्थः। सर्वेभ्यो दध्युपघातकेभ्यो दधि-रक्षणस्येष्टत्वात्। काकप्रतियोगिकदधिरक्षणानुयोगिकशाब्दबोधानन्तरं काकत्वेन काकपदार्थोपस्थितौ, सत्यां जातायां बाधायां दध्युपघातकत्वेन काकस्य प्रतियोगिकतयान्वयः। रक्षणातिशयश्च व्यङ्ग्यः।

इत्थं कृते विचारे एकमेव लक्षणमुभयत्रान्वेति इति नालोचनीयः वाग्देवतावतारः। तथा च लक्षणाया द्वौ भेदौ स्वयमेवार्थत आयातौ। एका शाब्दी लक्षणा एका चार्थी लक्षणा। यत्र श्रुतमात्रेणान्वय-बाधस्तत्रशाब्दी लक्षणा, यत्र तु तात्पर्यादिपर्यालोचनया बाधः तत्रार्थी

लक्षणेति। एषैव शब्दार्थगतत्वे, दोषगुणालङ्कारादीनामपि व्यवस्थितिः। इत्थञ्च शाब्दीलक्षणाया क्षेत्रं अलङ्कारादिः। आर्थी लक्षणायाश्च ध्वनिरिति। अर्थव्यञ्जकतायामेव वक्तृबोद्धव्यकाक्वादीनां साहाय्येन हेतुत्वं दर्शितम् मम्मटेन। लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्प्राधान्ये सत्येवा-विवक्षितवाच्यध्वनिः स्वीकृतः। पर्यवसिते च वाक्यार्थे तात्पर्यादिवशाद् यत्रार्थेनार्थान्तरस्य व्यक्तिस्तत्रैवध्वनिः आचार्यैः स्वीकृतः। वक्तृबोद्धव्याद्यर्थाश्रयत्वे बाधस्यार्थीलक्षणेति।

एतदेवाभिसन्धाय पण्डितराजेनोक्तम् – 'तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम् इति। मुख्यार्थतावच्छेकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावः इत्यनेन अन्वयानुपत्तिस्तात्पर्या-नुपपत्तिमूलयोरूभयोः स्थलयोः संग्रहः कृतः। 'गङ्गायां घोषः इत्यत्र र्तापर्यविषयान्वये मुख्यार्थगङ्गार्थस्य प्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन नास्त्यन्वयः, अतो मुख्यार्थतावच्छेदकगङ्गात्वरूपेण तटप्रतियोगि-कतायाऽन्वये सत्वेऽपि नास्तिक्षतिः। काकेम्योदधिरक्ष्यतागित्यत्र दधिरक्षणानुयोगिककाकप्रतियोगिकशाब्दबोधे, मुख्यार्थकाकस्य प्रतियोगिकतया जातेऽप्यन्वये वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्याद् मुख्यार्थतावच्छेदककाकत्वस्य नास्त्यन्वयः, अपितु दध्युपघातक-त्वस्येति, उभयत्र लक्षणसमन्वयः। अतः काव्यप्रकाशकारिकाया अर्थः स्पष्टीकरणीयः।

लक्षणाया, हेतुत्रितये, साक्षाद् हेतुत्वार्थकपञ्चम्यन्तपदं तावद् रूढिप्रयोजनपदयोर्दृश्यते। मुख्यार्थबाध मुख्यार्थयोगरूपहेतुद्वये कथं न पञ्चम्यन्तं पदमुपात्तम् ? इति क्रियमाणे विचारे, तात्पर्यविषयान्वये, मुख्यार्थबाधे जाते सति तद्योगे इति, मुख्यार्थतावच्छेदकयोगे प्रयोजनतः एका लक्षणा अन्वयानुपत्तिरूपा। तात्पर्यानुपपत्तिरूपा तु, तद्योगे, तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थयोगे, जाते सति, मुख्यार्थ-बाधे- वक्तृबोद्धब्यादि वैशिष्ट्यात् शक्यार्थबाधे, प्रयोजनवशात् लक्षणा। इति कारिकार्थः।

इयं लक्षणा रूढिःप्रयोजनवती चेति द्विविधा। तत्राद्या द्विविधा शुद्धा गौणी च। धर्मस्याऽयमनुकूल इत्यादावनुकूलप्रतिकूलानुलोम-प्रतिलोमलावण्यादयः कूलानुगत्वाद्यर्थेषु बाधितत्वादविच्छिन्न प्रयोगप्रवाहवशादेकवस्तुप्रवणत्वात्मना सादृश्येन सम्बन्धेनानुगुणादीन् लक्षयन्ति। अतोऽत्र सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी। कर्मणि कुशल 'इत्यत्र

विवेचकत्वादिसम्बन्धः सादृश्यसम्बन्ध एव बोद्धव्यः। नीलोघटः'इत्यादौ नीलशब्दवाच्यगुणरूपशक्यस्य समवायसम्बन्धेन गुणी लक्ष्यते अतोऽत्र शुद्धा रूढिः।

द्वितीया प्रयोजनवती अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्यां द्विविधा। तत्राद्या लक्षणोपादानसारोपसाध्यवसानभेदैश्चतुर्धा। गौणी च सारोप साध्यवसनाभ्यां द्विविधेति षड्विधा। एवमष्टविधा लक्षणाः प्रायः मुख्यतयाचार्यैर्लक्षिताः।

कश्चित्तु शुद्धा पञ्चविधा गौणी द्विविधेति सप्तविधा लक्षणा मन्यते। तेषा मते शुद्धाया जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसानेति पञ्चभेदाः। ते तेषु जहल्लक्षणा गङ्गायां घोषः, अजहल्लक्षणा कुन्ताः प्रविशन्ति' जहदजहल्लक्षणा 'वनं पुष्पितम्' सारोपा आयुर्घृतम् साध्यवसाना आयुरेवेदम्' मन्वते। एतेषु जहदजहल्लक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिकैः स्वीकृता। अस्या अवयवावयविसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायामन्तर्भावः। अन्यथा स्वस्वामिभावतादर्थ्य- तात्कर्म्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहणं स्यात्। अतः कार्यकारणभावादिषु मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धानां ग्रहणान्न तावज्जहदजहल्लक्षणा पृथङ्मन्तव्या। इत्थं षड्विधा लक्षणेति पूर्वं निर्दिष्टा।

ननु जहल्लक्षणायाः शुद्धासाध्यवसानयोर्नास्ति कश्चन भेदः, गङ्गायांघोषः आयुरेवेदं इत्यादिस्थलेषु अभेदाभिव्यक्तिरेवास्ति। यथा शैत्यपावनत्वाद्यतिशयप्रतीत्यर्थं गङ्गातटयोरभेदप्रतीतिरिष्यते तथैवाव्यभिचारितकार्यकारणभावप्रतीत्यर्थं आयुर्घृतयोरप्यभेदप्रतीतिः। अत उभयत्र विषय्यन्तःकृतविषयरूपतटघृतयोरवस्थानादेको भेदो लक्षणाया मन्तव्यः न तु पृथग्भेद इति चेत्, उच्यते –

वस्तुतः स्वरूपसंवेदनांशमादायोभयोः किञ्चिद्वैलक्षण्यं प्रतीयते यत्रोभयोर्विषयविषयिणोरुपादानं तत्र सारोपा तथा च तत्रैव विषयि मात्रपदोपादाने साध्यवसानेति प्रसिद्धिः। अत आयुर्घृतम्' आयुषिघृते प्रवृत्तिर्वा, आयुषि प्रवृतिरित्यादिवद् गङ्गायां घोषः इत्यत्र गङ्गायां तटे घोषः, गङ्गातटे घोष इत्यादीनां प्रयोगो न लभ्यते।

गङ्गातटयोः सामीप्यसम्बन्धस्य प्रमितत्वात् लोकाप्तवाक्याभ्यां विषयविषयित्वेन झटित्यग्रहः। गौर्वाहीक आयुर्घृतादीनां विषयविषयित्वं लोकाप्तवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति झटिति तद्गतधर्मस्यान्यत्र प्रतीतिः सुलभायते। अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादिः शुद्धाजहल्ल-

क्षणायास्तदितरतादर्थ्यतात्कर्म्यादिः साध्यवसानसारोपादिशुद्धा-लक्षणाया विषयः मन्तव्यः। अन्यथा कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यत्रापि कुन्तगततैक्ष्ण्याविवेकत्वादिधर्मोपरक्तपुरूषेष्वपि तदभेदप्रतीतिस्तत्रापि साध्यवसानेति वक्तुं सुलभम्।

अतः क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ताः कुन्तधारिणः पुरूषान् आक्षिपन्ति तथैवाधाराधेयभावसिद्ध्यर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थं सर्वथा तटेऽर्पयति तथैव समभिव्याहृतपदार्थतादात्म्यप्रतिपत्यर्थं सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशः सारोपायां तथा च अन्तःकृतविषयविषयिमात्रोपादानेन सर्वथाऽभेदप्रतिपत्यर्थं साध्यव-सानायां इति परस्परं भेदकं बीजं स्वीकर्तव्यम्।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्याप्यन्वयस्तथा आधारत्वेन नास्ति गङ्गाया अन्वयः, गङ्गात्वेन तटस्य प्रतीतावपि नास्त्युपादानं यतो हि घोषाधारत्वेन गङ्गात्वस्यान्वयो न सम्भवति। अतः लक्षणोपादनयोः परस्परं भेदः। एवमेव आयुर्घृतमित्यत्र समभिव्याहृतयोः समानाधि-करणयोः कार्यकारणभावादिनाऽभेदान्वये आयुष्ट्वस्यापि समन्वयात् लक्षणलक्षणातो भेदः। आयुरेवेदमिति साध्यवसानायां आयुष्ट्वघृत-त्वोभयधर्मविशिष्टघृतस्यान्यपदार्थान्वय इति स्वरूपसंवेदनांशेषु भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहितः अतः षड् लक्षणा।

जहल्लक्षणायामभेदाभिव्यक्तिसत्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्र-सम्पादन प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्वेनान्वयः अपितु अन्वयानन्तरं तत्वप्रतिपत्तिः, तत्वप्रतिपत्तौ सत्यामेव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजन सम्प्रत्ययः। मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यभानस्य स्वीकारेऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकस्य वाक्यार्थान्वये नास्ति किञ्चित्सामर्थ्यमिति ध्येयम्। अतः सर्वथा अभेदाभिव्यक्तिमेवादाय भेदविगलनं न विचारसहम्, अभिव्यक्त्या सर्वत्राभेदस्य सुग्रहात्।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणाया विषयः। सारोपलक्षणायां गौर्वाहीक इत्यादौ गवाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधाय लक्षणाया मास्तु आवश्यकता संसर्गेणैव अभेदेनान्वयस्य सम्भवात्। आहार्यज्ञानस्येव-शाब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिवध्यतावच्छेदककोटावनिवेश्यत्वात्। अतो गौणीसारोपायामभेदेन शाब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्ययः फलं मन्यते। तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीकः इत्यादौ विषयिगोशब्दादिभि-र्लक्षणयोपस्थापितानां गवादिसदृशानामभेदसंसर्गेण वाहीकादिशब्दो-पस्थापितैर्वाहीकत्वादिविशिष्टैर्वाहीकादिभिरन्वयः न च गवादिपदस्य

विवेचकत्वादिसम्बन्ध: सादृश्यसम्बन्ध एव बोद्धव्य:।
नीलोघट:'इत्यादौ नीलशब्दवाच्यगुणरूपशक्यस्य समवायसम्बन्धे
ने गुणी लक्ष्यते अतोऽत्र शुद्धा रूढि:।

द्वितीया प्रयोजनवती अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्यां द्विविधा।
तत्राद्या लक्षणोपादानसारोपसाध्यवसानभेदैश्चतुर्धा। गौणी च सारोप
साध्यवसनाभ्यां द्विविधेति षड्विधा। एवमष्टविधा लक्षणा: प्राय:
मुख्यतयाचार्यैर्लक्षिता:।

कश्चित्तु शुद्धा पञ्चविधा गौणी द्विविधेति सप्तविधा लक्षणा
मन्यते। तेषा मते शुद्धाया जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा
जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसानेति पञ्चभेदा:। ते तेषु
जहल्लक्षणा गङ्गायां घोष:, अजहल्लक्षणा कुन्ता: प्रविशन्ति'
जहदजहल्लक्षणा 'वनं पुष्पितम्' सारोपा आयुर्घृतम् साध्यवसाना
आयुरेवेदम्' मन्वते। एतेषु जहदजहल्लक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिकै:
स्वीकृता। अस्या अवयवावयविसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायामन्तर्भाव:।
अन्यथा स्वस्वामिभावतादर्थ्य- तात्कर्म्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहणं
स्यात्। अत: कार्यकारणभावादिषु मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धानां
ग्रहणान्न तावज्जहदजहल्लक्षणा पृथङ्मन्तव्या। इत्थं षड्विधा लक्षणेति
पूर्वं निर्दिष्टा।

ननु जहल्लक्षणाया: शुद्धासाध्यवसानयोर्नास्ति कश्चन भेद:,
गङ्गायांघोष: आयुरेवेदं इत्यादिस्थलेषु अभेदाभिव्यक्तिरेवास्ति। यथा
शैत्यपावनत्वाद्यतिशयप्रतीत्यर्थं गङ्गातटयोरभेदप्रतीतिरिष्यते
तथैवाव्यभिचारितकार्यकारणभावप्रतीत्यर्थं आयुर्घृतयोरप्यभेदप्रतीति:।
अत उभयत्र विषय्यन्त:कृतविषयरूपतटघृतयोरवस्थानादेको भेदो
लक्षणाया मन्तव्य: न तु पृथग्भेद इति चेत्, उच्यते –

वस्तुत: स्वरूपसंवेदनांशमादायोभयो: किञ्चिद्वैलक्षण्यं प्रतीयते
यत्रोभयोर्विषयविषयिणोरुपादानं तत्र सारोपा तथा च तत्रैव विषयि
मात्रपदोपादाने साध्यवसानेति प्रसिद्धि:। अत आयुर्घृतम्' आयुषिघृते
प्रवृत्तिर्वा, आयुषि प्रवृतिरित्यादिवद् गङ्गायां घोष: इत्यत्र गङ्गायां
तटे घोष:, गङ्गातटे घोष इत्यादीनां प्रयोगो न लभ्यते।

गङ्गातटयो: सामीप्यसम्बन्धस्य प्रमितत्वात् लोकाप्तवाक्याभ्यां
विषयविषयित्वेन झटित्यग्रह:। गौर्वाहीक आयुर्घृतादीनां विषयविषयित्वं
लोकाप्तवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति झटिति तद्गतधर्मस्यान्यत्र प्रतीति:
सुलभायते। अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादि: शुद्धाजहल्ल-

क्षणायास्तदितरतादर्थ्यतात्कर्म्यादि: साध्यवसानसारोपादिशुद्धा-
लक्षणाया विषय: मन्तव्य:। अन्यथा कुन्ता: प्रविशन्ति इत्यत्रापि
कुन्तगततैक्ष्ण्याविवेकत्वादिधर्मोपरक्तपुरूषेष्वपि तदभेदप्रतीतिस्तत्रापि
साध्यवसानेति वक्तुं सुलभम्।

अत: क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ता: कुन्तधारिण: पुरूषान्
आक्षिपन्ति तथैवाधाराधेयभावसिद्ध्यर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थं
सर्वथा तटेऽर्पयति तथैव समभिव्याहृतपदार्थतादात्म्यप्रतिपत्त्यर्थं
सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देश: सारोपायां तथा च
अन्त:कृतविषयविषयिमात्रोपादानेन सर्वथाऽभेदप्रतिपत्त्यर्थं साध्यव-
सानायां इति परस्परं भेदकं बीजं स्वीकर्तव्यम्।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्याप्यन्वयस्तथा आधारत्वेन नास्ति
गङ्गाया अन्वय:, गङ्गात्वेन तटस्य प्रतीतावपि नास्त्युपादानं यतो हि
घोषाधारत्वेन गङ्गात्वस्यान्वयो न सम्भवति। अत: लक्षणोपादनयो:
परस्परं भेद:। एवमेव आयुर्घृतमित्यत्र समभिव्याहृतयो: समानाधि-
करणयो: कार्यकारणभावादिनाऽभेदान्वये आयुष्ट्वस्यापि समन्वयात्
लक्षणलक्षणातो भेद:। आयुरेवेदमिति साध्यवसानायां आयुष्टवघृत-
त्वोभयधर्मविशिष्टघृतस्यान्यपदार्थान्वय इति स्वरूपसंवेदनांशेषु
भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहित: अत: षड् लक्षणा।

जहल्लक्षणायामभेदाभिव्यक्तिसत्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्र-
सम्पादन प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्वेनान्वय: अपितु अन्वयानन्तरं
तत्वप्रतिपत्ति:, तत्वप्रतिपत्तौ सत्यामेव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजन
सम्प्रत्यय:। मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यभानस्य स्वीकारेऽपि
मुख्यार्थतावच्छेदकस्य वाक्यार्थान्वये नास्ति किञ्चित्सामर्थ्यमिति
ध्येयम्। अत: सर्वथा अभेदाभिव्यक्तिमेवादाय भेदविगलनं न
विचारसहम्, अभिव्यक्त्या सर्वत्राभेदस्य सुग्रहात्।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणाया विषय:। सारोपलक्षणायां गौर्वाहीक
इत्यादौ गवाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधाय लक्षणाया मास्तु
आवश्यकता संसर्गेणैव अभेदेनान्वयस्य सम्भवात्। आहार्यज्ञानस्येव-
शाब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिवध्यतावच्छेदककोटावनिवेश्यत्वात्। अतो
गौणीसारोपायामभेदेन शाब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्यय: फलं मन्यते।
तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीक: इत्यादौ विषयिगोशब्दादिभि-
र्लक्षणयोपस्थापितानां गवादिसदृशानामभेदसंसर्गेण वाहीकादिशब्दो-
पस्थापितैर्वाहीकत्वादिविशिष्टैर्वाहीकादिभिरन्वय: न च गवादिपदस्य

विवेचकत्वादिसम्बन्धः सादृश्यसम्बन्ध एव बोद्धव्यः। नीलोघटः'इत्यादौ नीलशब्दवाच्यगुणरूपशक्यस्य समवायसम्बन्धेन गुणी लक्ष्यते अतोऽत्र शुद्धा रूढिः।

द्वितीया प्रयोजनवती अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्यां द्विविधा। तत्राद्या लक्षणोपादानसारोपसाध्यवसानभेदैश्चतुर्धा। गौणी च सारोप साध्यवसनाभ्यां द्विविधेति षड्विधा। एवमष्टविधा लक्षणाः प्रायः मुख्यतयाचार्यैर्लक्षिताः।

कश्चित्तु शुद्धा पञ्चविधा गौणी द्विविधेति सप्तविधा लक्षणा मन्यते। तेषा मते शुद्धाया जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसानेति पञ्चभेदाः। ते तेषु जहल्लक्षणा गङ्गायां घोषः, अजहल्लक्षणा कुन्ताः प्रविशन्ति' जहदजहल्लक्षणा 'वनं पुष्पितम्' सारोपा आयुर्घृतम् साध्यवसाना आयुरेवेदम्' मन्वते। एतेषु जहदजहल्लक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिकैः स्वीकृता। अस्या अवयवावयविसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायामन्तर्भावः। अन्यथा स्वस्वामिभावतादर्थ्य- तात्कर्म्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहणं स्यात्। अतः कार्यकारणभावादिषु मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धानां ग्रहणान्न तावज्जहदजहल्लक्षणा पृथङ्मन्तव्या। इत्थं षड्विधा लक्षणेति पूर्वं निर्दिष्टा।

ननु जहल्लक्षणायाः शुद्धासाध्यवसानयोर्नास्ति कश्चन भेदः, गङ्गायांघोषः आयुरेवेदं इत्यादिस्थलेषु अभेदाभिव्यक्तिरेवास्ति। यथा शैत्यपावनत्वाद्यतिशयप्रतीत्यर्थं गङ्गातटयोरभेदप्रतीतिरिष्यते तथैवाव्यभिचारितकार्यकारणभावप्रतीत्यर्थं आयुर्घृतयोरप्यभेदप्रतीतिः। अत उभयत्र विषय्यन्तःकृतविषयरूपतटघृतयोरवस्थानादेको भेदो लक्षणाया मन्तव्यः न तु पृथग्भेद इति चेत्, उच्यते –

वस्तुतः स्वरूपसंवेदनांशमादायोभयोः किञ्चिद्वैलक्षण्यं प्रतीयते यत्रोभयोर्विषयविषयिणोरुपादानं तत्र सारोपा तथा च तत्रैव विषयि मात्रपदोपादाने साध्यवसानेति प्रसिद्धिः। अत आयुर्घृतम्' आयुषिघृते प्रवृत्तिर्वा, आयुषि प्रवृतिरित्यादिवद् गङ्गायां घोषः इत्यत्र गङ्गायां तटे घोषः, गङ्गातटे घोष इत्यादीनां प्रयोगो न लभ्यते।

गङ्गातटयोः सामीप्यसम्बन्धस्य प्रमितत्वात् लोकाप्तवाक्याभ्यां विषयविषयित्वेन झटित्यग्रहः। गौर्वाहीक आयुर्घृतादीनां विषयविषयित्वं लोकाप्तवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति झटिति तद्गतधर्मस्यान्यत्र प्रतीतिः सुलभायते। अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादिः शुद्धाजहल्ल-

क्षणायास्तदितरतादर्थ्यतात्कर्म्यादिः साध्यवसानसारोपादिशुद्धा-लक्षणाया विषयः मन्तव्यः। अन्यथा कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यत्रापि कुन्तगततैक्ष्ण्याविवेकत्वादिधर्मोपरक्तपुरूषेष्वपि तदभेदप्रतीतिस्तत्रापि साध्यवसानेति वक्तुं सुलभम्।

अतः क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ताः कुन्तधारिणः पुरूषान् आक्षिपन्ति तथैवाधाराधेयभावसिद्ध्यर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थं सर्वथा तटेऽर्पयति तथैव समभिव्याहृतपदार्थतादात्म्यप्रतिपत्यर्थं सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशः सारोपायां तथा च अन्तःकृतविषयविषयिमात्रोपादानेन सर्वथाऽभेदप्रतिपत्यर्थं साध्यव-सानायां इति परस्परं भेदकं बीजं स्वीकर्तव्यम्।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्याप्यन्वयस्तथा आधारत्वेन नास्ति गङ्गाया अन्वयः, गङ्गात्वेन तटस्य प्रतीतावपि नास्त्युपादानं यतो हि घोषाधारत्वेन गङ्गात्वस्यान्वयो न सम्भवति। अतः लक्षणोपादनयोः परस्परं भेदः। एवमेव आयुर्घृतमित्यत्र समभिव्याहृतयोः समानाधि-करणयोः कार्यकारणभावादिनाऽभेदान्वये आयुष्ट्वस्यापि समन्वयात् लक्षणलक्षणातो भेदः। आयुरेवेदमिति साध्यवसानायां आयुष्ट्वघृत-त्वोभयधर्मविशिष्टघृतस्यान्यपदार्थान्वय इति स्वरूपसंवेदनांशेषु भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहितः अतः षड् लक्षणा।

जहल्लक्षणायामभेदाभिव्यक्तिसत्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्र-सम्पादन प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्वेनान्वयः अपितु अन्वयानन्तरं तत्वप्रतिपत्तिः, तत्वप्रतिपत्तौ सत्यामेव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजन सम्प्रत्ययः। मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यभानस्य स्वीकारेऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकस्य वाक्यार्थान्वये नास्ति किञ्चित्सामर्थ्यमिति ध्येयम्। अतः सर्वथा अभेदाभिव्यक्तिमेवादाय भेदविगलनं न विचारसहम्, अभिव्यक्त्या सर्वत्राभेदस्य सुग्रहात्।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणाया विषयः। सारोपलक्षणायां गौर्वाहीक इत्यादौ गवाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधाय लक्षणाया मास्तु आवश्यकता संसर्गेणैव अभेदेनान्वयस्य सम्भवात्। आहार्यज्ञानस्येव-शाब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिवध्यतावच्छेदककोटावनिवेश्यत्वात्। अतो गौणीसारोपायामभेदेन शाब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्ययः फलं मन्यते। तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीकः इत्यादौ विषयिगोशब्दादिभि-र्लक्षणयोपस्थापितानां गवादिसदृशानामभेदसंसर्गेण वाहीकादिशब्दो-पस्थापितैर्वाहीकत्वादिविशिष्टैर्वाहीकादिभिरन्वयः न च गवादिपदस्य

गवादिसादृश्ये लक्षणा, अभेदेन वाहीकादावन्वयासम्भवात्। नामार्थयो भेदातिरिक्तसंसर्गेण विशेषणविशेष्यभावतयान्वयासम्भवात्।

गोसदृशाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधे उपमावाचकसदृशशब्दस्य सत्वेऽपि नोपमाया विषय एकपदोपात्तगोसदृशयोरर्थयोरभेदेनान्वयाद् गोपदनिष्ठगोत्वमेवावच्छेदकतयोभयोः संगृह्यते। अतः सादृश्यस्या-भावान्नोपमा। यथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुविम्बमिव' इत्यत्र नानार्थकसकलकलशब्दस्य सकलकलत्वमेवोभयोरर्थयो रवच्छेदकः। अतः श्लेषस्थल इवात्रापि एकशब्दोपादानोत्थस्य-व्यञ्जनस्योपायात्वाच्चन्द्रसदृशयोस्ताद्रूप्यप्रत्यये वैयञ्जनिके बाध-वुद्ध्यप्रतिवध्यत्वात्। इत्थमत्र सादृश्यं न भेदघटितमतो भेदाघटितं सादृश्यं गौणसारोपलक्षणायां भेदघटितं सादृश्यञ्चोपमायामिति स्फुटे भेदबीजे नोपमाया अत्र प्रसङ्गः। विषये वाहीकादौविषयितावच्छेदकस्य गोत्वादेः सम्प्रत्ययात् ताद्रूप्यसवेदनं फलम्। 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशुरुज्जृम्भते इत्यादौ विषये विषयिताद्रूप्यस्यप्रत्ययः। अन्यथा चन्द्रसदृशे वक्त्रे स्थितेऽपि सत्यचन्द्रस्योज्जृम्भणे कुतः प्रश्नः स्यात्। इत्थ गोसदृशाभिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधे गवाभिन्नः सदृशः, सदृशाभिन्नो वाहीकः तस्माद् गवाभिन्नो वाहीक इत्यदि सुवचः। स्वताद्रूप्यवदभेदबुद्ध्या स्वताद्रूप्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नपि तस्य सिद्धेः।

इत्थं विषयिवाचकपदेन गवादिना विषयिगवादिवृत्तिजाड्यमान्द्या दिगुणवतो लक्षणया सारोपयोपस्थितौ विषये वाहीकादौ तस्याभेदेन संसर्गेण विशेषणतयान्वयः। एवञ्च गवादिवृत्तिजाड्यमान्द्यादि-गुणवद्भिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधः। न च गो सदृशो वाहीक इत्युपमातो गोसदृशो वाहीक इति सारोपात्मरूपकस्य को भेदः, समानशाब्दबोधविषयत्वात् अभिधालक्षणादिवृत्तिमात्रवैलक्षण्यस्या-प्रयोजकत्वात् विच्छित्तिवैलक्षण्याभावादिति वक्तव्यम्। प्रयोजन-वल्लक्षणया लाक्षणिकबोधोत्तरं जायमानेन प्रयोजनीभूतेना भेद-बोधेनैव वैलक्षण्यात्। तादृशलक्षणायाः प्रयोजनवत्तानियमात्। वृत्यन्तरव्यञ्जनावित्तिभाव्यत्वेनाभेदबुद्धेर्न बाधबुद्धिप्रतिवध्यत्वम्।

नव्यास्तु नामार्थयोरभेदसंसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् गवाभिन्नो वाहीक इति लक्षणां विनैव बोधः। संसर्गेणैवान्वयस्यो-पपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। लक्षणायाः स्वीकारे उपमित विशेषणसमासयोरुत्तरपदस्यलाक्षणिकत्वाविशेषात् रूढिप्रयोजन-

वत्योरुभयोलक्षणयैव संग्रहात् एकस्योपमात्वमन्यस्यरूपकत्वमिति व्याहतं स्यात्। एवं डित्थः गौरिव, डवित्थस्तु न तथा अपितु गोसदृश इत्यादौ नञर्थस्य लक्ष्यमाणगोसदृशान्वयित्वात् ' न गो सदृशः गोसदृशः 'इति बोधकदर्थनापत्तेः। नहि नञः पश्चाद् वृत्यन्त-रभाविफलीभूतज्ञानविषयेणाभेदेनान्वयो युक्तः भिन्नकालिकत्वात्। संसर्गेण जायमानस्याभेदबोधस्याहार्यत्वात् शाब्दत्वाद् वा न बाध-बुद्धिप्रतिवध्यत्वम्। सति च बाधनिश्चये तद्वत्ताशाब्दबुद्धेरनुत्पादः योग्यताज्ञानविरहात् आहार्ययोग्यताया सत्वान्नात्र बाधः। शाब्दत्वादपि नास्ति बाधवुद्धिः, यतोहि अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इत्यस्ति प्राचां प्रवादः।

अपि च विषयिगोगतजाड्यमान्द्यादिगुणवत्वबुद्धेः कथं गवाभिन्नबुद्धिर्वाहीके स्यात्, न हि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य तत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं क्वाप्यवगतम्। द्रव्यत्वेना भेदग्रहेऽपि पृथ्वीजलयोः पृथिवीत्वादिना भेदग्रहात्। तदभिन्नत्वेनैव ज्ञानादनन्तरं पुनस्तद्धर्मप्रतिपत्तिः फलं स्यात्गङ्गायां घोष इत्यादिवत् प्रवाहाभिन्नज्ञानस्येव शैत्यपावनत्वादिप्रतिपत्तिरिति।

इत्थं वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयोऽभ्युगन्तव्यः न तु वाच्यलक्ष्ययोः। अन्यथा राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्'—

—पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितमनोहर-मम्बिकायाः'' इत्युदाहरणयोः राजनाराणं पदाम्बुजमित्युभयत्रोत्तर-पदघटितप्रयोजन रूढिलक्षणागतसदृशपदार्थान्वितशाब्दबोधे समाने विशेषणसमासाधीनलक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनोपमितसमासाधीनमञ्जुमञ्जीर-शिञ्जितमनोहरत्वयोरुपपत्तिनिर्णायिका युक्तिर्नोपलभ्येत। यदि चोपमाननारायणपदस्य नारायणसदृशे लक्षणा तत्र लक्ष्यतावच्छेदकं सादृश्यं समानधर्मरूपम्, स च धर्मो लक्ष्ये राजनि शूरत्वादिविशेषरूपेण प्रतीयते उताहो सामान्यरूपेण। नाद्यः राजनारायणं शूरं श्रीरालिङ्गति निर्भरम् 'इत्युक्त्या पौनरुक्त्यापत्तेः। न चोपात्ताधर्मातिरिक्तधर्म एव लक्ष्यतावच्छेदकीभूतसादृश्यरूप इति वक्तुं युक्तम्, श्लिष्ट-साधर्म्यनिष्पन्नरूपकस्थले श्लेषभितिकाभेदाध्यवसितधर्मातिरिक्त-धर्मास्यासंवेदनात्। यथा —

अन्तःसारविशून्यानि सरोगाणि सच्छिद्रतः।
शरीरिणां शरीराणि बुद्बुदानि न संशयः॥

न द्वितीयः सादृश्यस्य वृत्योपलब्धौ उपमात्वापत्तेः। सादृश्यस्य

वाच्यतायामिव लक्ष्यतायामपि उपमा दृश्यते, यथा नलिन प्रतिपक्षमाननम्' इति।

विद्वन्मानसहंस इत्यत्र भूपहंसयोः सरोमनोरूपार्थद्वयाभिधायकमानसनिष्ठमानसत्वरूपसाधर्म्यप्रयोज्यसादृश्ये सिद्धे सदृशलक्षणामूलस्य हंसरूपकस्य सिद्धिः, उताहो हंसरूपकस्फूर्तौ सत्यामर्थद्वयाभिधानलक्षणस्य श्लेषस्यसिद्धिरिति विचार्यमाणे पूर्व रूपकस्फूर्तिरिव प्रमाणिता। स्फुरिते रूपके तद्घटकसादृश्यान्यथानुपपत्तिरूपेण प्रमाणेनार्थद्वयाभेदफलकस्य तदुभयप्रतिपादनात्मनः श्लेषस्य निष्पत्तिः। यथोक्तम्-

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषं तज्ज्ञापयेत् यदि।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते।। इति।

अतः नामार्थयोरभेदान्वयसरणिरेव रूपकस्थले रमणीया।

इत्थं नव्यानां मते गौणीशुद्धयोः सारोपयोरुभयोरपि नामार्थयोरभेदान्वयसरणिराद्रियते प्राचीनानां मते तु गौणीसारोपायां उपमानपदस्योपमानसदृशे प्रयोजनवतीलक्षणाऽऽद्रियते तथा च शुद्धा सारोपातः गौण्याशाब्दबोधे वैलक्षण्यमपि निरूप्यते। प्रयोजनवल्लक्षणायां भेदाकरम्बितसादृश्यस्य गौणीसारोपायां, तथा भेदकरम्बितसादृश्यस्योपमायां स्वीकारात्ततोभेदोऽपि निरूप्यते।

साध्यवसानायां तु 'गौर्जल्पति' 'आयुः रक्षति' इत्यादौ गवादिशब्दैर्लक्षणया वाहीकत्वेनोपस्थितस्य वाहीकादेर्जल्पनादिक्रियया सहशाब्दबोधः गोत्वादिना भवति। अथवा लक्षणया वाहीकत्वेन वाहीकादेः शाब्दबोधे जाते, एकपदोपात्तप्रादुर्भूतया व्यञ्जनया गोत्वेन बोधः फलमित्यपि मन्वते। उभयत्र गोत्वभानसामग्र्या वाहीकत्वादेः स्वधर्मस्य भानं न निवार्यते। इत्थमेकस्मिन् धर्मिणि वाहीके गोत्वेन वाहीकत्वेन च साक्षाद् भानमेव सारापातोऽस्या वैलक्षण्यम्।

अतएव 'कचतस्त्रस्यति वदनम्' इत्यादि राहुत्वेनोपस्थितस्य राहो श्चन्द्रत्वेनोपस्थितस्य चन्द्रस्य च शाब्दबोधानन्तरं व्यञ्जनया कचत्वादिना सम्पद्यते भानम्।

एतासु षड्विधासु लक्षणासु गौण्योः सारोपसाध्यवसानयोः रूपकातिशयोक्त्यङ्कारयोर्मूलत्वम्। शुद्धयोस्तुहेत्वलङ्कारे उपादानलक्षणलक्षणयोस्तु लक्षणामूलशब्दशक्त्युत्थवस्तुध्वनौहेतुत्वम्। अत्रान्वयानुपपत्तिः। मुख्यार्थयोगे जाते सति वक्तुस्तात्पर्यादिपर्यालोचनया वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्याद् वा मुख्यार्थबाधे उपस्थिते

अन्यार्थलक्षणायां विपरीतलक्षणायां वा सत्यां ध्वनेर्विषयः। यथा-

उपकृतं वहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्।।

अत्र वक्तृबोद्रव्यादिवौशिष्ट्यरूपार्थानुसंधानानन्तरं बाध इति अर्थगतत्वात् अर्थनिष्ठा, आर्थी वा लक्षणा। यत्र च शब्दश्रवणसमकालमेव बाधः स शब्दनिष्ठलक्षणाया विषयो मन्तव्यः। इयमेव तात्पर्यानुपपत्तिस्तात्पर्यादर्थादागता अनुपपत्तिरिति तात्पर्यानुपपत्तिः। इत्यलम्।

तात्पर्याख्या वृत्तिः

काव्ये वाचकलक्षकव्यञ्जकेतिशब्दानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्येति अर्था लभ्यन्ते। शब्दं विनाऽपि एकोऽर्थस्तात्पर्यार्थः काव्यप्रकाशादौ सबहुमानं मुपात्तो दृश्यते। यथा "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" 'इति। केषुचिदिति बहुवचनान्तेन तात्पर्यार्थे समादरो लक्ष्यते, यथा रसनिष्पत्तिप्रसङ्गे श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः इत्युक्तौ प्रतीयते। तात्पर्यार्थः तात्पर्यादागतोऽर्थः इति व्युत्पत्तिस्वीकारे कि नाम तात्पर्यमिति जिज्ञासा स्वाभाविकी। तात्पर्यार्थं लक्षयताचार्येण विशेषणतया विशेषवपुरपदार्थो वाक्यार्थ इति पदत्रयं प्रदत्तम्। तत्र कीदृशो विशेषवपुः कीदृशोऽपदार्थः अपदार्थत्वेऽपि कथं वाक्यार्थः इति प्रश्नो न जहाति चित्तम्।

आकाङ्क्षाया आत्मधर्मत्वात् सन्निधेः पदधर्मत्वादुपचारेणार्थ धर्मत्वं स्वीकृत्याकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमन्तः पदार्था यदा समन्विता भवन्ति तदानीं तात्पर्यार्थः समुल्लसति। तात्पर्यार्थः तात्पर्याख्यवृत्तिप्रतिपाद्यः। विशेषवपुः- वाच्याद्यर्थविलक्षणं संसर्गतारूपं वपुर्यस्य सः। अपदार्थः पदवृत्यविषयः। वाक्यार्थः पदसमूहगम्यः इति वामनीटीकायां स्पष्टम्। अनेन संसर्गतारूपस्तात्पर्यार्थो व्याख्यातः। उक्तञ्च काव्यप्रदीपे-लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः न त्वन्वयांशेऽपि गौरवादन्यलभ्यत्वाच्च। तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाक्यार्थो वाच्याद्यर्थविलक्षणशरीर आकाङक्षायोग्यता सन्निधिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते। न चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः। स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य नियामकत्वाद् इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। सुधासागरेऽपि - संसर्गस्य कथं शाब्दबोध इत्यत्राह-वाक्यार्थ इति संसर्ग इत्यर्थः। इत्थं संसर्गतारूपार्थोपलब्धये तात्पर्यावृत्तिरित्यायातम्।

ननु पदार्थशक्तत्वेन ज्ञातं पदमेव स्वार्थस्मरणद्वारा आकाङ्क्षादिवशात् समभिव्याहृतपदार्थेन सह संसर्गमर्यादया स्वार्थेऽन्वय इति

कार्यकारणभावकल्पनात् किमनया तात्पर्याख्यवृत्त्येतिचेत्, शाब्द-बोधे वृत्यविषयत्ववारणाय वृत्तिकल्पनेति केचित् अतः केषुचिदिति लाक्षणिकमतेषु, भट्टगोपालेन व्याख्यातम्। 'अन्वये लक्षणे'ति भट्टमतमपि तात्पर्यस्यैव नामान्तरलक्षणत्वेन नेयमिति सुधासागरः। एतेन स्पष्ट यद् भट्टमतानुसारेण संसर्गस्य शाब्दबोधविषयत्वे लक्षणा-नामा, मुख्यार्थबाधादिरूपलक्षणातिरिक्ता या स्वीकृता सैव तात्पर्याख्येति।

अत्रैतद् विचारणीयम्, अन्योपायेन प्रमाणेन वा लब्धस्यार्थस्य कृते, कथं प्रमाणान्तरवृत्तिस्वीकारः, नहि प्रमाणान्तरोपायेन प्रमितस्य पदार्थस्य कृते प्रमाणान्तरोपायः प्रकल्प्यते विद्वद्भिः। चेत् संसर्गतारूपार्थमेव तात्पर्य तर्हि संसर्गमर्यादयैव तस्य लब्धत्वात् किमर्थमन्याय्याचारः।

अत उच्यते - न तावत् संसर्गतारूपस्य वाक्यार्थस्य कृते तात्पर्य अपि तु अभिधयोपस्थितानां पदार्थानां संसर्गमर्यादयैव जाते समन्वये सान्वयपदार्थात्मकः वाक्यार्थः तात्पर्यार्थः। अतः वृत्तौ दर्शितं, 'पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थः विशेषवपुरि'ति। चेत् संसर्गतारूपः समन्वय एवं तात्पर्यार्थः तर्हि कथं व्यधिकरणत्वेन समन्वयतात्पर्यार्थयोर्निर्देशः अत उक्तं साहित्यचूडामणौ - समन्वये-सम्बन्धे सति इति। यथा पदार्थानां जातिगुणादीनामभिधेयत्वलक्षणानां समन्वये, 'व्यपेक्षादिभिरेकार्थपरतयोपात्तानां मिथोऽभिग्रथनमन्वयः' इत्युक्तत्वात्, सम्बन्धे सति पदार्थविलक्षणतया तद्रूपो वाक्यार्थ इत्यङ्गीकारात्। विशेषसरित्तीरफलसंसर्गादिर्वपुराकारो यस्य स (विशेषवपुरिति)

अर्थात् 'सरित्तीरे फलमस्ति' वाक्ये सरित्तीरमिति सरित्सम्ब-न्धितीरेति ङिविभक्तेरधिकरणत्वं फलमिति फलमर्थः संसर्गस्तु संसर्गमर्यादयेति आधाराधेयभावः सर्वेषां वाक्यार्थत्वे सरित्तीराधि-करणकफलमिति अथवासरित्तीरनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयतावत्फल-मिति शाब्दबोधः। अत्र फलविशेषणत्वेनायतस्य सरित्तीराधि-करणकविशेषणस्य बहुव्रीहिसमासायात्तस्य नास्ति पदस्य पदार्थत्वम् अतः एकविशेष्यकशाब्दबोधे काचिद् वृत्तिरवश्यमुपास्येति वृत्यविषयस्य शाब्दबोधेऽभानात्। अन्यथा यस्य कस्यचिदपदार्थस्या-पिशाब्दबोधापत्तेः। इत्थं सर्वोऽपि सरित्तीरफलसंसर्गादि वाक्यार्थः नतु केवलं संसर्ग इति।

न च भेदाभेदात्मकसंसर्गस्य बहुव्रीहिसमासाधीनार्थत्वं युक्तम्। अत एवं घटमानयेति घटकर्मकानयनानुकूलव्यापार रूपवाक्यार्थे आनयनविशेषणत्वेन स्थितस्य घटकर्मकत्वस्य बहुव्रीहिसमासायत्तस्यापदार्थत्वं, वाक्यार्थत्वं च सुस्थिरम्। उक्तञ्च–

अर्थाः पदैरभिहिताः स्वातन्त्र्येण पृथक्पृथक्।
अन्योन्ययोग्यसंसर्गमाकाङ्क्षन्ते परस्परम्॥
संसर्गयोग्यैः कथितैः संसृष्टास्ते विमृश्य च।
कस्योपकुर्म इति च प्रधानस्योपकुर्वते॥
प्रधानं मत्परं तेऽपि पदार्थास्तत्परा यतः।
भवन्ति तस्मात्तात्पर्यमित्यर्थान्तरमुच्यते।
वक्तृद्वारा वाक्यधर्मस्यैव वाक्यार्थकल्पनम्।
विशेषणानि सर्वत्रविशिंषन्त्यपि सर्वतः॥
विशेष्यस्य प्रधानत्वं स्वाश्रयत्वंविवृण्वते॥

यत्तु वामनीटीकायां विवरणे स्पष्टमिति प्रतीकमादाय, यद्यपि घटं करोतीति' घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिरित्यर्थे घटशब्दस्य घटोऽर्थः, अमृप्रत्ययस्य कर्मता, वृत्तिता तु न कस्यापीत्यपदार्थोऽपि वृत्तिता तात्पर्यवशाद् अनयोः संसर्गविधया भासते इत्युक्तम् तत्र पृच्छ्यते, तात्पर्यवशात् संसर्गविधया इत्येकमेव वा भिन्नम्। वृत्तिता तात्पर्यवशात् प्राप्ता, संसर्गमर्यादया च घटकर्मताम्यां सह वृत्तितायाः सम्बन्धश्चेत् घटवृत्तिकर्मतेत्यस्य लाभः, तर्हि कीदृशी संसर्गविधा ? चेत् संसर्गविधैव तात्पर्य्यं तर्हि एकत्र तात्पर्यवशात् इति पञ्चमी अपरत्र संसगविधयेति तृतीयाविभक्तिः किमर्थम्। अतः कृतिविशेषणतया, कर्मत्वानुकूला इत्येव तात्पर्यवशात् मन्तव्या, वृत्तितानुकूलत्वयोस्तु संसर्गमर्यादयेति विविक्तविषयतोभयोः।

अतः समन्वये सति तात्पर्यार्थः, इति वृत्तौ निर्दिष्टम्। अन्तर्निहितापदार्थवाक्यार्थप्रतिपादकत्वेन स्वीकृतायां तात्पर्याख्यायां रसनिष्पत्तावपि तस्या एव सामर्थ्यं मन्तव्यम्। यतो हि विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति सूत्रे नियताभिहितविभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्यविनाभावात् साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिस्थायी अपदार्थः वाक्यार्थो मन्यते। यथा पूर्वं वाक्यार्थरूपकार्य पर्यवसायित्वादनुक्तवहुब्रीहिघटितार्थाऽपदार्थस्तथैव निरतिशय-सुखास्वादात्मकार्यपर्यवसायित्वादनुपात्तः स्थायी वाक्यार्थ-

स्तात्पर्यविषयो मन्तव्यः। पौरुषेयमपौरुषेयं सर्वमपि वाक्यं कार्यपरम् अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वात्। काव्यशब्दरसास्वादयोरन्वयव्यतिरेकित्वेन प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वात् प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमितत्वं विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिनः। अतो विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्वसंसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः, तात्पर्यार्थः। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः वाच्यवाचकात्मकविभावादिवाक्यस्योपयोगः अतो न सुखजनकगीतादावतिप्रसङ्ग। अत उक्तं दशरूपके –

वाच्या प्रकारणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः।। इति

एवमेव भ्रम धार्मिक विश्रब्धमित्यादिस्थलेऽपि वक्तुर्विवक्षितप्राप्त्या प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तये निषेधं विधिरुपसर्पति। यथा अपेक्षापूरणात्प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिर्भवति तथैव विवक्षितप्राप्त्या तस्याविश्रान्तिरपि। अत उक्तम् –

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते।।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्य न तुलाधृतम् ।। इति

इत्थं वाक्यार्थनिरूपणे अभिधालक्षणातात्पर्याख्याभ्योऽतिरिक्तायाः वृत्तेर्नास्त्यपेक्षा समस्तवाक्यार्थावगतिस्ताभ्यस्तिसृभ्य एव। इदृशकाव्यरूपो वाक्यार्थो भावकः, रसश्च भाव्य इति काव्यरसयोर्भवतु भावकभाव्यसम्बन्धः। इत्थं रसनिषत्तौ भावनाख्यव्यापारोऽपि मन्तव्यः।

इत्थं विधिनिषेधयोर्या पार्यन्तिकी प्रतिष्ठा स वाक्यार्थः इति बलाद् 'निमित्तानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्युपायान्वेषणप्रयासः। अथवा वक्तुरभिप्रेततात्पर्यमाश्रित्य प्रयुक्तः शब्दो यत्परः स एव शब्दार्थः, शब्दार्थोऽयमभिधेयार्थ एव, अतः अभिधैवेषुव्यापारवददीर्घदीर्घतरव्यापार इति मन्तुं लाघवः। तात्पर्यं तु नाभिधान्तर्बहिर्भूतमेवेति केषाञ्चित् 'सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्युपायान्वेषणप्रयासः सिद्धयति। पुनस्तावत् तात्पर्यवादी चिन्तति, यत्तात्पर्यमभिधातो भिन्नो व्यापारः कल्प्यः, यतोहि उपात्तशब्दार्थातिरिक्तोऽप्यर्थः तात्पर्येण गृह्यते। यथा 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यस्य वाक्यार्थः, एतद्गृहे न भोक्तव्यमिति।

अतोऽयं तात्पर्यार्थः शब्दार्थातिरिक्तः। यथा च पूर्वोक्तविभावादिसूत्रे रत्यादिर्वाक्यार्थो निर्दिष्ट इति। इत्थं ध्वन्यालोकस्य कर्तुरानन्दवर्धनाचार्यस्य व्यञ्जनव्यापारं निराचिकीर्षूणामभिप्रायो दृश्यते।

एतान् सर्वान् अपि विकल्पान् आचार्यमम्मटः समाहृत्य तात्पर्याख्यां स्वीकुर्वन्नपि तस्याः विषयमभिधादिव्यापारवत् नियम्य व्यञ्जनायास्तया, अगतार्थत्वं निदर्शयन्नाह –

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यते इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्।

अस्यायमभिप्रायः – अभिधा सामान्यरूपेण पदार्थमात्रे उपक्षीणा वाक्यार्थरूपान्वितविशेषबोधायैव सा न प्रभवति, तदर्थमेव तात्पर्यवृत्तित्वेन कल्प्यते, तर्हि भ्रम धार्मिके त्यादौ निषेधस्य व्यङ्ग्यतायां कुतः तस्याः सामर्थ्यम्।

अस्तु मा भवत्वत्राभिधा, तात्पर्येणैतस्य सिद्धिरिति चेत् तदपि न, तात्पर्यस्यापि अभिहितपदार्थानामन्वयमात्रे सामर्थ्यम्। तत्तन्निष्ठविशेष्यविशेषणतया परस्परसंसर्गात्मवाक्यार्थबोधायैव सा प्रभवति न तु तदतिरिक्तविधिनिषेधादिबोधकतया। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावा इति सिद्धान्तात्।

अतो यदुच्यते "नैमित्तकानुसरेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" अर्थात् नैमित्तिकं हेतुमदर्थः तदर्थानुसारेण यद्यत्प्रयोगाधीनप्रतीतिहेतुकं तत् तन्निमित्तकमित्याकारेण निमित्तानि सम्बन्धग्रहणादीनि कल्प्यन्ते। तत्र पृच्छ्यते किं नाम निमित्तत्वम्। निमित्तत्वेन कारकत्वं गृह्यते ज्ञापकत्वं वा। तत्र नाद्यः शब्दस्य कारकत्वे क्षुरमोदकशब्दानामुच्चारणेषु मुखस्य कर्तनपाटनादिःपूरणादिश्च स्याताम्। अतः शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्। ज्ञापकत्वञ्चेत् तर्हि ज्ञातमेव धूमादि अग्नेर्ज्ञापकम्, अतोऽज्ञातस्य कथमपि ज्ञापकत्वम् न घटते शब्दनिष्ठज्ञापकत्वं तु ज्ञातत्वेनैव सम्भवति, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव। स च सङ्केतोऽन्वितपदार्थमात्रेऽभिधायामन्वितवाक्यार्थमात्रे – च तात्पर्याख्यायां, विरतायां, तदितर विधिनिषेधादिप्रतीतौ कथं ताभ्यां घटते। यतो हि निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तकस्य प्रतीतिरेव कथम्। अतो नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारिताभिधानम्।

ये तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽ-भिधाव्यापारः इति वक्तुरभिप्रेततात्पर्यमभिधातुमिच्छन्ति तेषामपि दृष्टौ विधिनिषेधादिर्नाभिधया ग्रहीतुं शक्यते। यतोहि यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इत्यस्यायमेवाभिप्राय उन्मीलितः यत् साध्यसाधनतायां न केवलं तिङन्तपदार्थैः, अपि तु कृदन्तपदार्थेऽपि तात्पर्य चेत् तर्हि तत्रापि साध्यमानतारूपं वस्तुनस्तात्पर्यमभिधातव्यम्। क्रियैवा प्रवृत्तिनिमित्तं पदार्थानाम्। भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति भूतात्मकारकपदार्था भव्यात्मक्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधान-तिङन्तक्रियानिर्वर्तकतया स्वात्मनिष्ठक्रियाया अप्यभिसम्बन्धं विद-धतः साध्यमानतामाप्नुवन्ति। ततश्च वाक्यान्तराद् यावदप्राप्तं तावदेव वाक्याद् विधीयते न तु वाक्यान्तरोपलब्धमपि। यथा वह्निर्यावद-दग्धकाष्ठमुपक्षिप्तस्तावदेव दहति न तु दग्धमपि। अतः ऋत्विजः प्रचरन्ति इति वाक्यात् प्राप्ते ऋत्विक्प्रचरणे लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति इति वाक्यात् केवलं लोहितोष्णीत्वमात्रपरः शब्दः लोहितोष्णीत्वमात्रशब्दार्थमभिदधाति विधेयतया, अतो लोहितोष्णीषत्वमात्रमेव विधेयम्। एवमेव हवनस्यान्यतः वाक्यात् प्राप्तत्वात्, दध्ना जुहोति इत्यस्मात् वाक्याद् दध्नः करणत्वमात्रं विधेयम्। एवमेव क्वचिदुभयविधिः क्वचित्त्रिविधिरपि। यथा 'रक्तं पटं वय' इति वाक्ये वयनं, पटवयनं, रक्तपटवयनमिति, इत्यादिना पूर्वं अनुपात्ते, एकस्मिन् पदार्थे विधिरनुपात्तयोरुभयपदार्थयो र्विधिरनुपात्तेषु त्रिविधपदार्थेष्वपि विधिरिति, यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमिति वाक्यान्तरादनुपात्ते, वाक्यादुपात्ते एव पदार्थे तात्पर्यम् न तु सर्वथानुपात्तशब्दार्थे अतः उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्य न तु प्रतीतमात्रे। अन्यथा पूर्वो धावति' इत्युपात्तपूर्वपदार्थस्य पर सापेक्षत्वादनुपात्तेऽपि परपदार्थे तात्पर्य स्यात्। अतः 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यस्यायमेवाभिप्रायः यद् वाक्यान्तरादनुपात्ते प्रकृतवाक्योपात्त एव शब्दे, क्रियाकारकात्मके तस्य स्वार्थपरत्वं विधेयतया मन्तव्यम्, स एव शब्दार्थः प्रकृतविधेयार्थः। स च विधेयोऽर्थः क्वचिदेकविधः क्वचिद्द्विविधः क्वचित्त्रिविध इति अभिधाया व्यापारः दीर्घदीर्घतरः मन्तव्यः। न च प्रतीयमानार्था-न्तरावसायपर्यन्तम्। यत्त्वस्य इषोर्व्यापारसादृश्यं दर्शि तं तदपि न सम्यक्। अर्थाद् यथैक एव सायकः शत्रोरुरच्छदमुरश्चभित्त्वा प्राणानपहरति तथा शब्दोऽपि सकृदेव प्रयुज्यमानः स्वार्थाभिधान-

मर्थान्तरप्रतिपत्तिं च करोति इति। तत्र पृच्छ्यते ननु यथा शरस्य स्वाभाविको व्यापारस्तथैवाभिधाया अपि वा भिन्नः। न चाभिधाया स्वाभाविको व्यापारोऽत्रापि तु, उपाधिप्रयुक्तः। संङ्केताद्युपाधिं विना-भिधा प्रसरत्येव न। अतः विषमोऽयं दृष्टान्तोपन्यासः।

अतः सिद्धविषयाणां साध्यविषयाणां च शब्दानामुपादाने प्रथमं द्वितीयायोपदिश्यते, इत्थं कारकाणामपि भव्यत्वं, तच्च भव्यत्वं, बहुविषयमपीत्यत्रैव दीर्घदीर्घतरत्वमभिधाया युक्तम्।

यच्च विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यम् इत्यनुपात्तस्यापि शब्दस्यार्थे क्वचित् तात्पर्य दृश्यते कथं चोच्यते यदुपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यमिति, तात्पर्येण प्रतीयमानार्थ जिघृक्षोर्मतं निराचिकीर्षन्नाह -

अत्र 'विषं भक्षय' इति सुहृद्वाक्यं, अतः स्वार्थेऽविश्रान्तं सत् विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति लक्षयति। अत एवाख्यात वाक्ययोः भक्षय, भुङ्क्था' इत्याख्यातप्रतिपाद्ययोरङ्गाङ्गिभावः सम्पद्यते अङ्गाङ्गिभावायैव चकारस्योपादानम्। अन्यथा कथमाख्यातवाक्ययो रङ्गाङ्गिभावः सम्पद्येत। "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्" इति न्यायस्य जागरूकत्वात्। नह्यत्र लक्षणां विना प्रधानयो राख्यातवाच्यवाक्यार्थयोः समयोः सम्बन्धः स्यात्। वाच्ययोराख्यात वाक्ययोः साक्षात् कर्तृकर्मभावादिनाऽन्वयोदुर्घटः न तु लक्ष्यवाच्ययोः। अतः विषंभक्षयेत्याख्यातवाक्यस्य कृदन्तवाक्ये लक्षणा, येन विषभक्षणादपि दुष्टभेतद्गृहेभोजनमिति लब्धम्। अस्य कृदन्तवाक्यस्य मा "चास्यगृहेमुङ्क्थाः इति वाच्याख्यातवाक्यार्थेऽन्वयः। एतदेवानु-सन्धायोक्तम् - न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति। कल्पनीया लक्षणयेति भावः। तदनन्तरं विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था "इत्यस्य विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्थाः इति वाक्यविपरिणामः। विपरिणते चास्मिन् वाक्ये उपात्तशब्दार्थ एव एतद्गृहे न भोक्तव्यमिति ' तात्पर्यम् न तु अनुपात्ते। अतस्तात्पर्य न तुलाधृतमित्युक्तिरसमीचीना।

भावना

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत्।

तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।।

इत्यादिना रसनिष्पत्त्यवसरे तिस्रो वृत्तयो भट्टनायकेन दर्शिताः, अभिधा भावना तद्भोगीकृताख्या च। तत्र केयं भावनेति विचारो वृत्तिविचारावसरेऽवश्यमेवाभ्यर्हति।

तत्र प्रथमं तावत् किन्निष्ठोऽयं व्यापारः, काव्यशब्दनिष्ठः काव्यार्थनिष्ठ, भावकसहृदयनिष्ठोऽथवा एतत्त्रितयनिष्ठः सामान्यः।

तत्र केचित् विशिष्टविभावादिमत्काव्यरसयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगमात् रसकाव्ययोर्भाव्यभावकसम्बन्धः इति कृत्वा काव्यशब्दनिष्ठभावना स्वीक्रियते। अतएव नाट्यशास्त्रे, नाट्ययोक्तृभिः कविभिस्तु ते भावा विज्ञेया, ये भावा अभिनयसम्बन्धान् रसान् भावयन्ति इत्युक्तम्। लोके यथा तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापिकाव्ये तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन रत्यादिप्रतीतिरिति तथाविधकाव्यशब्दरत्यादिप्रतीत्योरविनाभावसम्बन्धमाश्रित्य काव्यशब्देष्वपि रसेन सह भाव्यभावकसम्बन्धो भावनाक्रियावादिभिः स्वीक्रियते। अत एवोक्तं दशरूपके न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि, भाव्यभावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः। ते हि स्वतः भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते। न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमितिवाच्यम् भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वादिति'। अतः अगृहीतसम्बन्धेभ्योऽपि पदेभ्यः लोके तथाविधदर्शनाद् दरमीलन्नयनात्वादिशब्देभ्योऽपि रत्यादिस्थायिप्रतीतिर्भावनया सम्पद्यते। इयं भावना अभिधेयाविनाभावसम्बन्धेन रत्यादिप्रतिपादकत्वात् लाक्षणिकी बोद्धुं शक्या।

यदा तु काव्यार्थरसयोर्भाव्यभावकसम्बन्धस्तदानीमर्थनिष्ठेयं भावना कविभिः रसेन सहृदयानानन्दयितुं काव्ये प्रवर्त्यते न तु रामादीन्। अतः काव्यार्थोपप्लावितः सहृदयवर्ती रत्यादिः स्थायीभावो निर्भरानन्दसंविदात्मतामापद्यमानो रसो भवति। अतः रामादेः शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमस्मदादिभिरनुभूयमानं विभावत्वेन रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यते। अवभासनेऽस्मिन् रामादिः केवलं धीरोदात्ताद्यवस्थानामेव प्रतिपादको भवति येन परित्यक्तदशरथतनयादिविशेषो गृहीतधीरोदात्ताद्यवस्थामात्रं

प्रतीयते। यथा मृन्मयैर्द्विरदादिभिः क्रीडतां बालानां तदुत्साह एव स स्वदते तथैवार्जुनादिभिः श्रोतृणां स्वोत्साह एवेति। अतोलौकिकस्त्रीपुरुषादिव्यतिरिक्तविभावादीनां नाट्ये परिग्रहः। विभावादिष्वपि भावनाव्यापारविशेषः स्वीक्रियते। इत्थं काव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदादिप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभी रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपाद्यैरनुभावैरवान्तर्गतव्यापारविभावनाऽनुभावनसञ्चारणैर्भावरूपतां नीतः स्थायी भावः स्वदते। इत्थं सहृदयस्वादानुकूलस्थायिभावानयने साधारणीकर्तुं विभावादिषु विभावनादिव्यापार एव भावनाव्यापारः कैश्चित् स्वीक्रियते। यथोक्तं भट्नायकेन–'विभावादिसाधरणीकरणात्मनाऽ- भिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन .... भोगेन परं भुज्यत इति। यद्यपि साधरणीकृतविभावानामुपस्थितौ भट्टनायकेन भावकत्वन्यापार इति, विभावादीनां सर्वेषां भावरूपतामानीतानां रसास्वादावसरे, भावनिष्ठत्वेन भावकत्व (भावना) व्यापारः स्वीक्रियते, तथा चान्येन मतेन विभावादिष्वेव विभावनादिव्यापारमहिम्ना साधारणीकृतेषु साधारणीकृतस्थायिभावानयनमिति पूर्वोक्तमते लभ्यते। यथोक्तं दशरूपके –

विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते।

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद् विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः।
भावितः स्वदते स्थायी, रसः सः परिकीर्तितः।। इति

विभावसञ्चार्यनुभावेषु अवान्तरकाव्यव्यापारो विभावन सञ्चारणानुभावनेति मन्तव्यम्। उक्तञ्च साहित्यदर्पणे –

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्नासाधारणीकृतिः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।

इत्थं विभावनादिव्यापारश्चेत्, भावकत्वव्यापारस्तथा च भट्टनायकानुमतो विभावादिसाधारणीकरणात्मा भावकत्वव्यापारः, काव्यार्थनिष्ठ इति काव्यार्थगतोऽयं स्वीक्रियते। चेत् सहृदयतासहकृतस्तदानीं सहृदयनिष्ठोऽपि। सहृदयनिष्ठो भावकत्वव्यापार इति पक्षे व्यापारस्य शब्दार्थनिष्ठत्वेन प्रसिद्धत्वात् सहृदयनिष्ठत्वे व्यापारत्वहानिरपि किं न कल्प्येत। ननु भावकपदं न केवलं

भावककाव्ये प्रयुक्तमपितु ' ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यते 'इत्युक्त्या भावकपदेन सहृदया अपि गृह्यन्ते, तर्हि तत्रापि भावकत्वव्यापारः कथं न स्यात्।

उक्तञ्च रसगङ्गाधरे भट्टनायकमतानुवादे – न कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात् इति। अत्र नागेशः - विशेष्यतासम्बन्धः समवायः इति। समवाय-सम्बन्धेन तादृशज्ञानस्य सहृदयात्मनिष्ठत्वेन सहृदयनिष्ठ-भावकत्वव्यापारः सुलभः। अत एव टीकाकृदादिभिर्भट्टनायकमते भावकत्व व्यापारस्यातिरिक्तकल्पनायां गौरवं प्रदर्शितम्।

एतत्सर्वमनुसंधाय पण्डितराजेन भावकत्वव्यापारस्यातिरिक्तकल्पनायां गौरवमनुभूयाभिनवगुप्तमताऽनुवादे, सहृदयहृदयप्रविष्टानामालम्बनादिकारणानां विगलितदुःष्यन्तरमणीत्वादिरूपविभावादि व्यपदेशाय, सहृदयतासहकृतभावनाविशेषव्यापारः स्वीकृतः सहृदयहृदयप्रविष्टेषु विभावादिषु सहृदयतासहकृतेन भावनाविशेष महिम्ना अलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिव्यपदेश्यत्वञ्च दर्शितम्। भावनाविशेषोऽयं न भिन्नो भावकत्वव्यापारात्मा अपितु विभावनानुभावनसञ्चारणादिरूप एव। अतो नातिरिक्तव्यापारकल्पनम्।

एतेन भावकत्वव्यापारस्य शब्दार्थसहृदयनिष्ठत्वेन तत्तदाचार्यै र्निर्दिष्टमिति प्रतिपादितम्।

ननु भावनेयमभिधातो द्वितीयव्यापारत्वेन स्वीकृतत्वात् विरोध्यंशपरित्यागपूर्वकाविरुद्धार्थग्रहणाद् भागत्यागलक्षणैव कथं न भवतु। शकुन्तलादिषु पूज्यबुद्धित्वाद् रसानुकूलविभावादित्वेनोपस्थितेरसम्भवात् तत्वेनोपस्थितये अगम्यात्वप्रकारकविरुद्धांश परित्यागपूर्वककान्तात्वस्य ग्रहणात्। चेद् विभावादिभ्यो रत्यादिभावनम् तदानीं रत्यादेरपदार्थत्वात् तस्यैव च वाक्यार्थत्वात् लक्षणलक्षणा वा भवतु। विभावादिभिः सह रत्यादिसंवलितत्वे उपादानलक्षणा वा स्यात्, किमुत भावना। उक्तञ्च दशरूपके 'रत्याद्यविनाभूत चेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभूतभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीति'रिति'।

उच्यते, अभिधापुच्छभूताया लक्षणायाः प्रयोजनवशात् तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थबाधेजाते सति मुख्यार्थ सम्बद्ध-

लक्ष्यार्थोपस्थित्यान्वयमात्रोपक्षीणता, वाक्यार्थविषयपदार्थान्वये जाते सति तात्पर्यार्थबाधोन्मीलिते मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तावच्छेदकावच्छिन्नान्वयमात्रोपक्षीणतेति आलङ्कारिकैर्निर्दिष्टम्। विभावादीनामन्वये नास्ति मुख्यार्थबाध इति नास्ति प्रथमलक्षणयाः अवसर। मुख्यार्थान्वये जाते सति रत्यादिप्रतीतौ नास्ति बाध इति न द्वितीयाया अवसरः। सहृदयनिष्ठरसादिप्रतीतिवेलायां समुपस्थिते बाधे, तद्दोषविशेषमहिम्ना वा विभावनादिव्यापारमहिम्ना वा भावकत्वव्यापारमहिम्ना वा विरुद्धांशत्याग इति कुतः लक्षणाया अवसरः। यथा –

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः।।

इत्यत्र नास्ति क्वापिबाधोदयः, अभिधामूलध्वनित्वात्। त्तत्तत्पदाभिव्यक्तानुभावानां न 'रतये' इति रतिपदेन सहान्वयः। अपि तु अनुभावभावितरतेः सहान्वयः। अतस्तत्र लक्षणाया नोदयः। इति धियोभयोर्विविक्तविषयत्वं बोध्यम्।

भोजकत्वव्यापारः वा रसनाव्यापारः

भट्टनायको भोजकत्वव्यापारेण रसो भुज्यते इति स्वीकरोति। एतन्मतानुसारेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि'ति सूत्रव्याख्यायां भरतमुनिर्यथा 'नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादीं'श्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, इति न्यदर्शयत्। अत्रैव– भट्टनायकः, भोग्यस्य भोक्तुः फलस्य च साम्यं यथातथाशब्दाभ्यां दर्शयन् व्याख्याति– व्यञ्जनसंस्कृते अन्ने आस्वाद्यता, एकाग्रमनसि भाक्तरि आस्वादयितृता। प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वदफलता। तथा स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता, एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूते चास्वादयितृता, प्रहर्षधर्मादिव्युत्पत्ति-वैदग्ध्यादीनामास्वादफलता। इत्थं कर्मकर्तृफलसादृश्यात् विभावादिजः संविद्विशेषो भोगक्रियेति व्यपदिष्टः। तेन भोगेन भुञ्जाना सुमनसः हर्षादीन् यान्ति रसानास्वादयन्ति। भोगोऽयं अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणः रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्याद्द्रुतिविस्तार विकासक्षोभादिलक्षणः सत्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधश्च स्वीकृतः। अनेनैव भोगेन विभावादिसाधारणीकरणात्मभावकत्वव्यापारेण

भाव्यमानः रत्यादिस्थाय्यात्मरसो भुज्यते। अत्र भुज्यत इति यका निर्देशः, स्थायिनो भोग्यत्वलाभाय न तु रसस्य, यतोहि उक्तम् 'आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते' इति। ननु रसोऽपि अनुभवविषयतयैव गृहीतः न स्थायिमात्रमिति, यतोहि—तेनैवोक्तं 'संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः। आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते' इति। व्यङ्ग्यत्वेन परसंवित्तिविषयत्वेन च तस्यानुभवव्यतिरिक्तत्वेनानुभवविषयत्वेनैव च संग्रहो विहितो दृश्यते यतोहि 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' इति विभावादिजनित चर्वणात्मकास्वादरूपभोगात्मप्रत्ययगोचरतापादनमेव रसः, इति निर्दिष्टः। अस्तु विषयत्वं व्यङ्ग्यत्वं तु रसस्य लक्षणया मन्तव्यम्। आस्वादनात्मानुभवो रसः' इत्युक्त्या आस्वादरूपभोगप्रत्ययात्मा एव रसः, व्यङ्ग्यत्वे गोचरत्वे चोपचार इत्येवाभिप्रायः। यतो हि उक्तम्, अस्या कारिकायास्तात्पर्यलेखनेऽभिनवभारत्याम्—तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते, अनुभवेन च तद्विषयः' इति मन्तव्यम्'। इति।

चेन्नानुभवो रसः तत्र तद्विविषयश्चेद्रसस्तर्हिभोगेन भुज्यते' इत्यस्यापि सामञ्जस्यात्, भट्टनायकानुसारेण विषयतयैव रसस्थितिरिति रसनिष्पत्तिः। सा सक्षाद् रसस्यनिष्पत्तिरिति सूत्रार्थः। अभिनवमते तु रसपदेन 'रसना' गृहीता, अतः रसनाया निष्पत्ति दर्शिता। रसनाविनाभावाद्रसनिष्पत्तिरुपचर्यते इति विवेक उभयोः।

व्यञ्जना

निर्दिष्टेभ्य एतेभ्यः सर्वेभ्यो व्यापारेभ्यो विलक्षणः काव्यव्यापारो व्यञ्जनेति आचार्यैर्निर्दिष्टम्। भामहेन स्वकाव्यलक्षणे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति' निरूप्य व्यञ्जनायाः समुन्मेषः कृतः, पश्चादानन्द-वर्धनाचार्येण ध्वनिकाव्यं निरूपयता, स्पष्टतया समुपबृंहिता। बहुभिर-नधिगतवाक्यार्थसरणिभिः "सहितौ" इत्यस्य सहावस्थितौ' इत्यर्थो निरूप्यते। तत्र ते प्रष्टव्याः, साहित्यशास्त्रस्य चिरन्तनेष्वाचार्येषु प्रधानतया प्रामुख्येन वा समभ्यर्हित आचार्यभामहः काव्यलक्षण-विधाने कथं पुरोभागित्वमाचरत्। शब्दार्थाविति द्वन्द्वेनैव शब्दार्थयोः साहचर्यस्य समुपस्थितौ पुनः भिन्नपदाधानेन सहितावित्यनेन किं प्रयोजनम्। एतत्पौनरूक्त्यपरिहाराय 'सहितौ' इत्यस्यार्थो विचारयितव्यः। हितेन सह वर्तमानौ सहितौ इति सहस्य सभावे कृते हितपदार्थो व्युत्पादनीयः। तत्र धाधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नं

हितपदं अभिहितमित्यर्थममिधातुं समर्थम्। विनापिप्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपेत्यादिना 'अभि' पदस्यलोपः। मुकुलभट्टेनाभिधया वाच्यलक्ष्ययोरुभयोरर्थयोर्ग्रहणं दर्शितम्। चेद् भावे क्तप्रत्ययस्तदानी मभिधालक्षणयोर्ग्रहः। उभयोर्ग्रहणं तत्वतः 'शब्दार्थौ' इत्यर्थपदेन स्पष्टमस्ति। अतश्चेदेताभ्यामेव सहितौ शब्दार्थौ तदानीमपि किमपि नोक्तम्। अतस्ताभ्यां सह वर्तमानः कश्चनैतदतिरिक्तोऽर्थो व्यापारोवा ग्रहीतव्यः स चानभिधेयो लोके काव्याकाव्यादौ सर्वत्रोपलभ्यः सहृदयहृदयैकगम्यः वक्रार्थरूपो वा वक्रव्यापाररूपो वा ग्राह्यो भवति। तत्र शब्दार्थसाहचर्येण ग्राह्यत्वे काव्यत्वं तदितरत्र स्थलेऽकाव्यत्वमिति स्फुटम्। अतोऽत्रैवाद्याचार्येणैव व्यञ्जनस्योन्मेषः कृतः। पश्चाद् वक्रोक्तिजीवितकारेणास्यैव व्याख्या काव्यलक्षणप्रसङ्गे विहितेव प्रतिभाति। यथा।

शब्दार्थौसहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। इति।

इत्थं परम्परामनुरुन्धानेनैवाचार्यानन्दवर्धनेन ध्वनिर्व्यञ्जना च काव्ये स्फुटतया विवेचिते। अत उक्तं—द्वावप्यर्थौ वाच्यप्रतीयमानाख्यौ पूर्वविद्वद्भिः स्मृतिविषयीकृतौ किन्तु तयोर्मध्ये वाच्यस्य स्फुटं व्याकृतिर्लभ्यते न तु द्वितीयस्य, अतः अत्र मया स एवार्थः प्रतन्यते। यथा

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितौ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततोनेह प्रतन्यते।। इति ।

इत्थं मूलाविच्छिन्नो यः प्रतीयमानार्थगतो व्यापार स व्यञ्जना शब्दार्थनिष्ठेति सम्प्राप्तम्।

अतः व्यञ्जनाया लक्षणमित्थंकर्तव्यम् –
अभिधाद्यतिरिक्तार्थे चमत्कारप्रसूर्बुधैः।
मन्यते व्यञ्जना वृत्तिः शब्दस्यार्थादिकस्य च।
यत्तु साहित्यदर्पकारेण –

'विरतास्वभिधाद्यासु ययान्योर्थो प्रतीयते' इत्युक्तं तन्न गुणीभूतव्यङ्ग्यस्थले अभिधाया तात्पर्याख्याया वा अविरतत्वेऽपि व्यञ्जनायाः स्थिति र्लभ्यते। चेदभिधया न वाक्यार्थः केवलं पदार्थ एव गृहीतस्तथापि न निस्तारः यतोहि 'अभिधाद्यासु' इत्यस्य

अभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु इति व्याख्यातत्वात्।

ननु विशिष्टवाच्यलक्ष्यार्थयोस्तद्विशेष्यैकदेशतो गुणभाव-रसादीनां विवक्षितार्थानां गम्यत्वे गम्यगमकयोर्वृत्तिर्गतिरिति, तथा च स्वार्थविशेषणगुणादिनार्थान्तरमनुस्यूता गुणादिभ्यः पृथग् द्योत्ये तद्विशेष्यसामर्थ्यकल्प्येऽर्थे द्योतकस्य या वृत्तिः सा द्युतिरिति। तथा च वाच्यलक्ष्यादिवस्तुषु पदवाक्यार्थसंश्रये गुणे रसेऽलङ्कारे वा योऽतिशयः, प्रत्याय्यस्तत्र प्रत्यायकस्य यो व्यापारः स प्रतीतिरिति व्यपारग्राह्याणामर्थानामपि अभिधाद्यर्थातिरिक्तार्थत्वे तेष्वतिव्याप्तिः व्यञ्जानायाः, यथोक्तम् –

विशिष्टे वाच्यलक्ष्येऽर्थे विशेषणविशेष्ययोः।
यावदर्थं विवृण्वन्ती या वृत्तिर्गतिरीरिता।।
वाक्यार्थवयवीभूतपदार्थान् जिघ्रती क्रमात्।
विवक्षिते द्योतमाना या वृत्तिर्द्युतिरुच्यते।।
अविश्रमेण व्यापारो रसाद्यतिशयावधिः।
प्रत्यायकस्य प्रत्याय्ये प्रतीतिरितिकथ्यते।। इति।

तन्न। एतासां सर्वासां वृत्तीनां व्यञ्जनायामेवान्तर्भावो दर्शितः।
यथा काव्यप्रकाशे –

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यम-वश्यमेषितव्यम्। आदिपदेन अञ्जनप्रकाशनप्रत्यायनावगमनबोधन-सूचनादीनां परिग्रह इति टीकायाम्, काव्ये अवगमनपर्यन्तमेव ग्रहणमिति मामकीनः पक्षः। बोधनस्य सामान्यात्मतया सूचनस्य चाकाव्यात्मतया नात्र परिग्रह उचितः। एतेन स्पष्टं भवति यत्प्राचीनैस्तत्तद्विशेषस्थले तत्तद्वृत्तिरपि स्वीकृता तासां सर्वासां व्यञ्जनया सुग्रहो दर्शितः।

तथाच अनुमित्यर्थापत्तितर्जनीतोलनात्मसूचनस्मृतिप्रत्यभिज्ञा-भिधाद्यादिवृत्तित्रयभिन्नत्वेन व्यञ्जनाया स्थितिराचार्यैर्दर्शिता।

व्यञ्जनेयमपि अभिधालक्षणावृत्तिवत् शब्दगता अर्थगता च भवति। अभिधालक्षणाभ्यामनन्तरं व्यञ्जनोत्थानादभिधामूला लक्षणामूला किञ्चात्र स्वात्ममूलात्मतयापि स्वात्माविर्भावाद् व्यञ्जनामूला चापि भवति। इत्थं अभिधामूला शाब्दी, आर्थी, लक्षणामूला शाब्दी, आर्थी, तथा च व्यञ्जनामूला शाब्दी आर्थीति षड्विधा प्रतिपद्यते।

तेषु अभिधामूलशाब्दव्यञ्जना, नानार्थकपदनिष्ठा प्रसिद्धा। नानार्थकं पदमनेकञ्चेद् वाक्यमूलव्यञ्जना, एकञ्चेत् पदमूल-व्यञ्जनेति द्विविधा। तत्राद्या संयोगादिना नानार्थकानां शब्दानां प्रकृतवाक्यार्थे नियन्त्रिते यदाऽप्रकृतवाक्यार्थबोधस्तदानीमप्रकृत-वाक्यार्थरूपं वस्तु व्यङ्ग्यं, तच्च केवलं व्यञ्जनागम्यम्। तथा च प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोर्यदोपमानोपमेयभावादिर्व्यङ्ग्यस्तदानीं तन्मूलालंकारव्यङ्ग्य इति।

उदाहरणं यथा –
भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।

अत्र गृहीतसंकेतकस्य पुरुषस्याभिधया नानार्थकपदानां सर्वेषां संकेतितार्थानामुपस्थितौ पश्चात् संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारिते, प्रकृतराजसम्बद्धवाक्यार्थबोधेऽभिहिते गजसम्बन्धिवाक्यार्थ-बोधाय संयोगादिना नियंत्रितशक्तिकाऽभिधा पूर्वं सर्वपदार्थो-पस्थापिकत्वेऽपि इदानीमप्रकृतवाक्यार्थबोधे शिथिला तदनुकूल-पदार्थानपि नोपस्थापयति। पूर्वोपस्थापितपदार्थानां सन्निधेरभावान्न वाक्यार्थबोधे सामर्थ्यमिति अप्रकृतपदार्थवाक्यार्थयोरुभयत्र व्यञ्जनैव। यथोक्तम् 'संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्य-नेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः इति।

यदि अप्रकृतार्थस्यापि कृते अभिधा स्वीक्रियेत तदानी पुनः पदानुसंधानरूपगौरवापत्तिर्दुर्वार्या। व्यञ्जनया तु लाघवापत्तिः स्पष्टा। अत्र वंश शिलीमुखपरवारणदानकरशब्दानामनेकार्थकत्वम्।

सभङ्गश्लेषेणापि सवस्त्वलंकारध्वनिर्दशयता, यथा–
उल्लास्यकालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपुणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः।।

अत्र कालकरवालमहाम्बुवाहमित्यत्र, कालकरं कृष्णकान्तिं, बालं महाम्बुवाहम्, प्रकृते तु कालकरवालेति। अत्र तु अनेकार्थकः शब्दः कोशादिना संकेतितः पूर्ववत् प्रायो न लभ्यते। रणजलयोस्तु ध्वनिकान्त्यर्थयोरपि सत्वे कदाचित् नानार्थकत्वं स्यात्। अन्यथात्वेऽपि नास्ति काचित् क्षतिः।

क्वचिदभिधामूलशब्दशक्तेरलंकारध्वनिस्तु कोशादिना निर्दिष्ट-नानार्थकपदाभावेऽपि समस्तपदस्य विश्लेषेण लब्धार्थान्तराभास-मात्रेणापि दृश्यते। यथा - 'तिग्मरुचिरप्रतापो-विधुर-निशाकृद्विभो मधुरलीलः' इत्यादौ। अत्र तिग्मो रुचिरः प्रतापोयस्य स तथा च तिग्मरुचिः अप्रतापः इति सन्धिविश्लेषलभ्यः विरोधाभासः।

क्वचिच्च समासकृतो नानार्थकाभासेऽपि यथा-

'अहितः सहितः साधुयशेभिरसतामसि'।

अत्र असतामहितः साधुयशोभिः सहितः इति वाक्यार्थानन्तरं श्रुतमात्रेण यो हितेन रहितः, सह कथं हितेन सहितः इत्याभासार्थमात्रे विरोधाभासोलंकारः।

शुद्धवस्तुध्वनिर्यथा –

पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक्प्रस्तरस्थले ग्रामे।

उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस।।

अत्र प्रकृतार्थे प्रस्तरबहुलग्रामे कट्टाद्यास्तरणं नास्ति अत्युन्नतं मेघं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्निवस इति तदनन्तरं मूर्खप्रायग्रामे विहिताविहितकार्यबोधकशास्त्रादिविचारो नास्ति। अनुपभुक्तमुन्नतं स्तनं प्रेक्ष्य यदि उपभोगक्षमोऽसि, तर्हि आस्स्व इति अप्रकृतार्थ-बोधाय व्यञ्जनैव स्वीक्रियते।

एतेषु स्थलेषु अभिधामूलवाक्योत्थव्यञ्जना मन्तव्या।

अभिधामूलपदोत्थव्यञ्जनामूलवस्तुध्वनिर्यथा –

'शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।'

अत्र वज्रार्थकाशनिपदस्य शनिविरोध्यर्थकत्वेन 'विरुद्धाविति' व्यज्यते। अतो विरुद्धावपित्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति वस्तु ध्वन्यते।

तादृग्व्यञ्जनामूलालंकारध्वनिर्यथा –

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।

अत्राभित्तावेव चित्रं नानाविधं जगत् तन्वते कलाश्लाघ्याय शूलिने नमः इति अभिधेयार्थपर्यवसानानन्तरं जगदिवचित्रमिति 'कला' चन्द्रकला इव कला, आलेख्यक्रियाकौतुकमिति, चित्रकलाभ्यां पदाभ्यां मषीतूलिकाद्युपकरणैर्भित्तावालेख्यकर्तृभ्यः शूलिन उत्कर्षो व्यज्यत इति व्यतिरेकालंकारः।

अभिधामूलशब्दोत्थव्यञ्जनामूलरसध्वनिर्यथा–

पदैकदेशादिव्यञ्जकतायाम्। प्रकृति-प्रत्ययसम्बन्ध-वचन-पुरुषव्यत्यय-पूर्वनिपातविभक्ति-तद्धितोपसर्गाव्ययीभावादिभिः काव्यप्रकाशे विपुलमुदाहृतम्।

लक्षणामूलशाब्दीव्यञ्जना यथा–

गङ्गायां घोषः, इत्यादयः, मुखं विकसितस्मितम् इत्यादयश्च लक्षणाहेतुबाधादेः श्रुतमात्रेण यत्र प्रत्ययो भवति सा लक्षणामूलशाब्दीव्यञ्जना। यत्र च वाक्यार्थपर्यवासानन्तरं वक्तृबोद्ध्यादिवैशिष्ट्याद् मुख्यार्थबाधादिहेतोः प्रत्ययस्तत्र लक्षणामूलार्थी-व्यञ्जना। यथा– 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इति। वक्तृबोधव्या-दिकाकूनांवाक्यवाच्यान्यसन्निधेरित्यादि साहाय्येन यत्रार्थस्यार्थान्तर-धीस्तत्रार्थी व्यञ्जनेति लक्षितम्। अभिधाहेतुसंकेताश्रयत्वेन अभिधामूलत्वं, लक्षणाहेतुबाधाद्याश्रयत्वेन लक्षणमूलत्वम् बाधा-बाधसाधारणाप्रसिद्धार्थविषयकधीसमाश्रयत्वेन व्यञ्जनामूलत्वमिति मन्तव्यम्।

पदगतलक्षणामूलव्यञ्जना– सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचित् त्वयेति।

लक्षणामूलावाक्यगतव्यञ्जना यथा– मुखं विकसित-स्मितमित्यादयः। अनेकपदाश्रयत्वेन कामिनीरूपविभावाश्रयत्वेन च वाक्यगता।

वाक्यार्थगता यथा– यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथे-त्यादयः। अत्राश्वस्तत्वनियन्त्रणीयत्वादयोऽर्थाः धन्यजन्मजीवनना-नुकूलत्वेन सन्तीति वाक्यार्थव्यञ्जकत्वम्।

अथवा– 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते इत्यादयः।

अभिधामूलवाक्यार्थव्यञ्जनाया उदाहरणं, तु वक्तृबोद्धव्यादि-साहाय्येन अर्थशक्त्युद्भवस्य द्वादशभेदाः काव्यप्रकाशे निर्दिष्टा मन्तव्याः।

व्यञ्जनामूलाशाब्दीव्यञ्जनाया उदाहरणम्– रसानुकूला वृत्तयोनुप्रासादयश्च।

व्यञ्जनामूलाआर्थीव्यञ्जनाया उदाहरणम्–

'पश्यनिश्चलनिष्पन्देति पद्यम्।'

'विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं नाभिकमलस्थमिति।'

इति संक्षेपेणाऽत्र व्यञ्जना दर्शिता, अनुमानस्मृत्यादिभ्यः सर्वथा

भिन्नेयमिति न क्वाप्यन्तर्भाव इति विवेकः मन्निर्मितचन्द्रालोकटीकाया भूमिकायां द्रष्टव्यः।

वृत्तिवार्त्तिककर्तुरीषत्परिचयः

श्रीमदप्पय्यदीरक्षितो मद्रपुरात् पश्चिमदिशि अडयप्पलाभिधग्रामे लब्धजन्मा विश्वजिदध्वरयाजिनो श्रीरङ्गराजाध्वरीन्द्रस्य प्रथितः पुत्रः आसित्। यथोक्तम्–

विद्वद्गुरोर्विहितविश्वजिदध्वरस्य श्रीसर्वतोमुखमहाव्रतयाजिसूनोः।
श्रीरङ्गनाथमखिनः श्रितचन्द्रमौलिरप्पय्यदीक्षित इति प्रथितस्तनूजः।।

मध्वतन्त्रमुखमर्दन १/५९

पद्येनानेनास्य पिता श्रीरङ्गराजाध्वरीन्द्रः विदुषां लब्धप्रतिष्ठः विश्वजिदध्वरस्य संपादयिता श्रीरङ्गनाथमखस्याविरलयाजीति प्रतीतं भवति। अस्य माता मङ्गलाम्बेतिनामा आसीत्।

अस्य कालविषये प्रामुख्येन माध्वतन्त्रमुखमर्दनभूमिका सिद्धान्तलेशसंग्रहभूमिका पण्डितराजतिरस्कारिण्युक्तिरप्पयदीक्षितस्येति वृद्धपरम्परा, शिष्यनीलकण्ठदीक्षितोक्तिश्च निर्णायकत्वेनतिहास–विद्भिरुलिख्यन्ते।

ऐतेषु नीलकण्ठदीक्षितो नीलकण्ठविजये स्वगुरूं वन्दमानो लिखति यद् "श्रीमानप्पय्यदीक्षितः स जयति श्रीकाठविद्यागुरुः" इति। अत्र जयति पदं लट्लकारे प्रयुक्तमिति कदाचित् श्रीमदप्पय्यदीक्षितस्य वर्तमानत्वमपि तदानीं स्यात्। यद्यपि स पदमपि प्रयुक्तमस्ति नात्रायं पदं प्रयुक्तम्। 'जयति' पदं, तु 'विद्याक्षेत्रे सर्वोत्कर्षेण वर्तते' इत्यर्थकत्वे विद्याक्षेत्रे सर्वथा तस्य वर्तमानत्वमेवेति न कालिकवर्तमानत्वं धर्तुं युज्यते, तथापि वर्तमानत्वमप्पय्यदीक्षितस्य स्वीकृत्य नीलकण्ठचम्ब्वाः रचना समाप्तिकालः १६३७ तमे खीष्टाब्दे उपलभ्यते तस्य जन्म समयः द्वासप्ततिवर्षाणि ततो निःसार्य १५६५ तमे खिष्टाब्दे मन्तु शक्यते। यथोक्तम्– नीलकण्ठवीजये–

अष्टत्रिंशदुपस्कृतप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु।
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम्।।

तथा च नीलकण्ठदीक्षितेन भ्रातुष्पौत्रेण विरचिते शिवलीलार्णवे–

कालेन शम्भुः किल तावताऽपि कलाश्चतुःषष्टिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समाः प्रबन्धान् शतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः।।

सिद्धान्तलेशसंग्रहे– तु–

'वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भागे स्पृहा, न किञ्चिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्।'

तथाहि–

'पूर्वार्धे चरमेद्विसप्ततितमस्याब्दस्य सद्विश्वजिद्,
याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजद् ज्योतिः सतां पश्यताम्।।'

इति श्लोका उपलभ्येते।

द्वितीयादिश्लोकेन श्रीमदप्पय्यदीक्षितो द्वासप्ततिवर्षपर्यन्तम–वश्यमेव शरीरमधृतेति नास्ति विवादः। तथा च शिवानन्दयोगिरचिते अप्पय्यदीक्षितेन्द्रविजये एकः श्लोको लभ्यते येनास्य स्वर्गगतत्वं स्पष्टं भवति। यद्यपि कदा स स्वर्गतः इति निश्चितः समयोऽत्रापि न निर्दिष्टस्तथापि कृष्णादेवनृपतेः स्वर्यानात्पूर्वमेवास्य स्वर्गगतत्वं निर्दिष्टम्। श्रीकृष्णदेवनृपतिः गतकलौ ४६३०तमे दिवं प्रायात्। अतस्ततः पूर्वमेव दीक्षितस्य प्रयाणं सूच्यते श्लोकनानेन– यथा–

षट्शतत्रिंशदुत्तंसचतुःसाहस्रके कलौ।
स्वर्गतं गुरुमन्वेष्टुमिव राज्ञि दिवंगतौ।।

एतेन स्पष्टमस्ति यत् १५२९ तमखीष्टाब्दतः पूर्वमेवाप्पय्यदीक्षितः स्वशरीरबन्धं तत्याज। गतकलिः ५१०३ इदानीं चलति। अतः त्रिसप्तत्युत्तरचतुःशतवर्षेभ्यः पूर्वं श्रीमदप्पय्यदीक्षितस्यान्तिमः कालः निर्णेतुं शक्यते। स्वर्गतं गुरुमन्वेष्टुमित्यनेन सद्यःगुरुशरीरत्यागः सूच्यते, यतो हि लोके झटित्येव गृहान्निर्गतस्य जनस्यान्वेषणं विधीयते न तु बहोः कालात् पूर्वं निःसृतस्य। किन्तु एषश्लोकः प्रामाणिकतामप्पय्यदीक्षितस्य मृत्यवे न विभर्तीतिप्रतीयते। यतोहि १६३७ खीष्टाब्दे तस्यस्थितिश्चेत् कथं १५२९ खीष्टाब्दे तस्य स्वर्गमनं सम्भवेत्।

अत उक्तपूर्वश्लोकेन १५६५ खीष्टाब्दतः पूर्वमेवस्य जन्मकालः निश्चेतुं शक्यते।

दर्शनम्

सर्वशास्त्रेषु पारङ्गतः श्रीमदप्पय्यदीक्षितः शाङ्कराद्वैतसिद्धान्तमेव

प्रधानं मनुते। यद्यपि द्वैतप्रधानमपि ग्रन्थं टीकादिभिर्द्वैतप्रधानतयाऽपि व्याख्यान् दृश्यते किन्तु दृढास्था तेषामद्वैतसिद्धान्त एव।

आद्रियध्वमिदमध्वदर्शनं व्यध्वगै त्यजत मध्वदर्शनम्।
शाङ्करं भजत शाश्वतं मतं साधवस्स इह साक्ष्युमाधव:।।

किन्तु श्रूयते यद् राजाश्रिता विद्वांस: कमपि प्रचीनं ग्रन्थं टीकयितुं ग्रन्थालयस्थग्रन्थेषु कमप्येकं ग्रन्थं नेत्रे निमिल्य गृह्णन्ति। यो ग्रन्थो हस्ते पतति तस्यैव व्याख्यानं तदाचार्यरीत्या विधीयते। अप्पय्यदीक्षितोऽपि राज्ञा चिन्नवोमाभिधेन आकारित: ग्रन्थालयादेकं ग्रन्थं ग्रहीतुं प्रावर्तत, तत्र यादवाभ्युदयनामग्रन्थ: प्रथमं हस्ते पतित:। अत्र 'ममरुचिर्नास्ति' इत्युक्त्वा पुन: अन्येद्युस्तथैवाचरन् स पुन: तमेवग्रन्थमलभत। तृतीयवारं यदा स एव ग्रन्थो हस्ते पतितस्तदानीमियमेवेश्वरेच्छेति उक्त्वा तस्य द्वैताश्रितस्य ग्रन्थस्य टीकामकृत। तथा च तत: प्रभृति द्वैतेऽपि तस्य रुचिरजायत। अत: उक्तं हरिहरशतके स्वयमेव–

वस्तां पिशङ्गं वसनं, दिशो वा गरुत्मता यतु ककुद्मता वा।
निद्रातु वा नृत्यतु वाधिरङ्गं भेदो न मे स्यात्परमस्य धाम्न:।।

ष्णातोऽयं ज्योतिष्टोम–वाजपेयादिभि–र्यज्ञपुरुषमपि अयजत। सम्पूर्णे भारते तेषामटनं भ्रमणमपि जातम्। अनेन शताधिका ग्रन्था लिखिता:। मध्वतन्त्रमुखमर्दनस्य पुष्पिकायाम्–

'चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्माणचणस्य श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्रस्य' इत्युक्तिर्लभ्यते।

तस्य तत्तद्विषयका टीकादिमौलिकग्रन्था एवं निर्दिष्टा: सन्ति–

कृतय:

राज्ञा सम्मानितो निवेदितश्चायं चतुरधिकशतं प्रबन्धान् निर्ममे। तेषु विंशतितमा: स्वकृतेरेव व्याख्या: सन्ति। द्वादशतमा अन्यग्रन्थटीका: सन्ति। ते सर्वेऽत्र नाम्ना निर्दिश्यन्ते।

१. अद्वैतवेदान्तसम्बन्धिनो ग्रन्था:

१. नयमञ्जरी (अद्वैतसम्बद्धा ब्रह्मसूत्रवृत्ति:),२. सिद्धान्तलेशसंग्रह:, ३. न्यायरक्षामणि: (ब्रह्मसूत्रप्रथमाध्यायव्याख्या), ४. रामानुजशृङ्गभङ्ग:, ५. कल्पतरुपरिमल: (कल्पतरुव्याख्यारूप:), ६. मध्वतन्त्रमुखमर्दनम्, ७. मध्वमतवि- ध्वंसनम् (तद्व्याख्या), ८. अधिकरणपञ्चिका,९. तप्तमुद्राविद्रावणम्।

२. मध्वमतसम्बन्धिनो ग्रन्था:

१. न्यायमुक्तावली (मध्वमतसम्बद्धा ब्रह्मसूत्रवृति:) २. न्यायमुक्तावली व्याख्या ३. न्यायरत्नमाला ४. तद्व्याख्या।

३.पूर्वमीमांसाविषयका ग्रन्था:

१. चित्रपट: (मीमांसाधिकरणश्लोकसंग्रह:) २. विधिरसायनम् (अपूर्वादिविधित्रयविचार:) ३. तद्व्याख्या (विधिरसायनसुखोपयोजिनी) ४. उपक्रमपराक्रम: (उपक्रमप्राबल्यनिरूपणरूप:) ५. पूर्वोतरमीमांसावादनक्षत्रमाला ६. धर्ममीमांसापरिभषा ७. मयूखावलि: (शास्त्रदीपिकाख्या)।

४. रामानुजमतविषयका ग्रन्था:

१.यादवाभ्युदयव्याख्यानम् २. वरदराजस्तव: ३.वरदराजस्तवविवरणम् (व्याख्या) ४. नयमूखमालिका (ब्रह्मसूत्रवृति:) ५.पादुकासहस्रव्याख्या ६. रामानुजतात्पर्यसंग्रह: ७. तद्व्याख्या।

५. श्रीकण्ठमतविषयकाग्रन्था:

१. नयनमणिमाला (ब्रह्मसूत्रवृति:) २. शिवार्कमणिदीपिका (श्रीकण्ठभाष्यव्याख्या) ३. आनन्दलहरी (श्रीकण्ठभाष्यतात्पर्यरूपा) ४. चन्द्रिका (तद्व्याख्या)

६. दर्शनाविषयका ग्रन्था:

१. शिवाद्वैतनिर्णय: २. तत्वमुक्तावली ३. मणिमालिका

७. व्याकरणविषयका ग्रन्था:

१. नक्षत्रवादावली २. तिङन्तशेषसंग्रह: ।

८. कोशग्रन्था:

१. नामसंग्रहमाला २. तद्व्याख्या ३. शब्दप्रकाश: ४. अमरकोश व्याख्या ।

९. अंलङ्कारशास्त्रीया ग्रन्था:

१.कुवलयानन्द २. चित्रमीमांसा ३. वृत्तिवार्तिकम्।

१०. काव्यग्रन्था:

१. मार्गबन्धुचम्पू: २.प्रबोधचन्द्रोदयटीका ३.वसुमती (चित्रसेनविलासनाटकम्) ४. हंससन्देशटीका ५.दशकुमारचरित्रसंग्रह:।

११. पुराणेतिहासविषयका ग्रन्था:

१. भारततात्पर्यसंग्रह: २. तद्व्याख्या ३. रामायणतात्पर्यसंग्रह: ४. तद्वाख्या ५. हरिवंशसारचरितव्याख्या ६. शिवपुराणतामसत्वखण्डनम्।

१२. स्फुटग्रन्थाः

१. पच्चस्वरवृतिः २. मतसारार्थसंग्रहः ३. लक्षणरत्नावली-व्याख्या ४ प्राकृतचन्द्रिका ५. अधिकरणमाला ६. अधिकरणसारावलिः

१३. स्तोत्रग्रन्थाः

१. कृष्णध्यानपद्धतिः २. दुर्गाचन्द्रकलास्तुतिः ३. तद्विवरणम् ४. आदित्यस्तोत्रम् ५.तद्व्याख्या ६.अपीतकुचाम्बास्तवः ७. रत्नत्रयपरीक्षा (हरिहरशक्तीनां माहात्म्यपरा) ८. तद्व्याख्या ९. पंचरत्नस्तुतिः १०. तद्व्याख्या ११. शिखरिणीमाला (शिवोत्कर्षप्रतिपादिका) १२. तद्व्याख्या (शिवतत्वविवेकः) १३. ब्रह्मतर्कस्तवः १४. तद्विवरणम् १५. शिवकर्णामृतम् १६. शिवार्चनचन्द्रिका १७. बालचन्द्रिका १८.तद्व्याख्या १९.वीरशैवम् २०. गङ्गधराष्टकम् २१. भस्मवादावली २२. शिवध्यानपद्धतिः २३. शिवपूजाविधिः २४. हरिहरस्तुतिः २५. निग्रहाष्टकम् २६. आत्मापर्णस्तुतिः २७. मानसोल्लासः २८.श्रीविद्यातत्वविवरणम् २९. मार्गबन्धुपञ्चरत्नम् ३०. तान्त्रिकमीमांसा ३१. अनुग्रहाष्टकम् ३२. शिवमहिमकलिकास्तुतिः ३३. अरूणाचलेश्वरस्तुतिः ३४. कष्णध्यानपद्धतिव्याख्या ३५. जयोल्लासनिधिः ३६. मार्गसहायस्तोत्रम् ३७. विष्णुतत्वरहस्यम् ३८. शान्तिस्तवः ३९. शिवध्यानपद्धतिव्याख्यानम् ४०. शैवकल्पद्रुमः ४१. सिद्धान्तरत्नाकरः ४२. स्तोत्ररत्नाकरः ४३. मार्गसहायलिङ्गस्तुतिः ४४. भक्तिशतकम् इति।

वृत्तिवार्तिकोपजीव्यत्वनिर्देश

वृत्विार्तिकस्य कर्ता श्रीमदप्पयदीक्षितोऽनूचान इति सर्वैर्ज्ञायते। वेदाध्ययनेन सह तदङ्गानां व्याकरणन्यायमीमांसासाहित्य वेदान्तसांख्ययोग पुराणागमादीनामप्यधीती इत्यत्र नास्ति संशयलेशः। अतः वृत्तिवार्तिकाभिधोयं लघुकायोपि ग्रन्थः साहित्येतरशास्त्र तत्वैरपिप्रभावितो लक्ष्यते। नैयायिकानां मतमभिधास्थले निरूपितं लभ्यत एव। यद्यपि साहित्यशास्त्रम् सर्वशास्त्राणां तत्वमाकृष्यैव प्रर्वतमानं मन्यते अतः सर्वशास्त्रपारिषद्यमावहत् साहित्यशास्त्रं स्वस्मिन् वृत्तिवार्तिकं क्रोडीकरोति । अतः मङ्गलपद्ये 'वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धृभिरि'ति निर्दिश्यते। प्राचीनैर्भामहवामनादिभिः अलंकाररीत्यादिविवेचनपरैर्वृत्तीनां निरूपणमकृत्वाऽन्यशास्त्रस्थवृत्तिस्वरूपमेव स्वीचक्रे इति वक्तुं सुशकम्। आनन्दवर्धनेन ध्वनिं व्यवस्थापयताऽप्रधानतया सर्वा अपि वृत्तयः निर्दिष्टाः किन्तु स्वतन्त्रलक्षणानि तासां

तत्रापि न लभ्यन्ते। ध्वन्यर्थ व्यञ्जनावृत्तेः प्राधान्यं दर्शयतानेन यदा अतिरिक्ता वृत्तिर्दर्शिता तदनन्तरं मुकुलभट्टेन, अभिधायामेव सर्वासां वृत्तीनां सन्निवेशं दर्शयता 'अभिधावृत्तिमातृका' रचिता। श्रीदीक्षितेन तिस्रोऽपि वृत्तयः मङ्गलाचरणप्रसङ्गे समनतयैव हरनेत्राणीव निर्दिष्टास्तथापि व्यञ्जनाया स्वरूपादिकमत्र न लक्षितम्। जयदेवेन भृशं प्रभावितोऽयं चन्द्रालोकस्थवृत्तिविचारानुसारेण क्वचित् किञ्चिल्लक्षयन्नपि वस्तुतोऽन्यत्र प्रकाशितं वस्तु परित्यज्यैव सर्वथा स्पष्टतयाऽनुक्तं तत्त्वमुद्घाटयितु प्रवृत्तो लक्ष्यते। यतो ह्युक्तम् स्वयमेव-

तत्र क्वचिद् क्वचिद् वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टङ्कयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम्।। इति

....

विषयानुक्रम:

वृत्तिवार्तिक सूची

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितम् वृत्तिवार्तिकम्

....

विश्वं प्रकाशयन्ती व्यापारैर्लक्षणाभिधध्वननैः।
नयनैरिव हरमूर्तिर्विबुधोपास्या सरस्वती जयति।।
वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धृभिः।
अभिधा लक्षणा व्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः।।
तत्र क्वचित्क्वचिद्वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टङ्कयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम्।।

व्यापारनयनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः, विबुधपदेन देवविदुषोरुभयोर्रर्थयोर्ग्रहाद् विबुधोपास्यत्वं श्लिष्टसाधर्म्यं बोध्यम्।

अस्फुटीकृतान् निगूढान् विशेषानिति निरूपितवृत्तिस्थ-विशेषपदार्थान्। निष्टङ्कयितुं, स्फोरयितुम् इति।

तीनो नेत्रों के समान, अभिधालक्षणा एवं व्यञ्जनारूप तीनों व्यापारों से सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाली विबुधो से सदा सेवित हरमूर्ति के समान सरस्वती सर्वोत्कृष्ट है।

काव्यमार्ग में अलंकारशास्त्र के प्रणेताओं ने अभिधालक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीन वृत्तियों का निरूपण किया है।

उनमें, विद्यावृद्धों उन विद्वानों से जो स्पष्ट रूप में व्याख्यात नहीं किया गया है उसे केवल स्फुट रूप से प्रकाशित करने के लिए मैने वृत्तिवार्तिक की रचना प्रारम्भ की है।

तत्र –

शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा।

सा त्रिधा– रूढिर्योगो योगरूढिश्च। {तत्र–}

अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः।

तन्मात्रेण प्रतिपादकत्वं च–अवयवार्थाप्रतिभासाद्वा, तत्प्रतिभासेऽपि तस्य प्रतिपाद्ये बाधाद्वा। यथा–

'यत्ते पदाम्बुरुहमम्बुरुहासनेड्यं
धन्याः प्रपद्य सकृदीश भवन्ति मुक्ताः।

नित्यं तदेव भजतामतिमुक्तलक्ष्मी-
र्युक्तैव देव मणिनूपुरमौक्तिकानाम्।।'

अत्र 'मणिनूपुरा'दिशब्दानां नावयवार्थप्रतिभासः, अतिमुक्त-शब्दस्यावयवार्थप्रतिभासेऽपि वासन्तीलक्षणे प्रतिपाद्ये तस्य बाध इत्येषां रूढिः। यद्यपि 'अतिमुक्तलक्ष्मीर्वासन्तीमुकुलशोभैव मुक्तातिशायिनी संपद्' इत्यभेदाध्वसायार्थमतिमुक्तशब्दस्या-वयवार्थोऽपि विवक्षितः, तथापि तस्य वासन्तीगतत्वेना-प्रतिपादनात्तत्र रूढिरेव। एतदव्याप्तिवारणेनैव लक्षणेऽप्येक-पदमर्थवत्।

शक्त्या - शक्तिग्रहेण, संकेतेनेति। प्रतिपादकत्वं, अर्थ निरूपितप्रतिपादकनिष्ठप्रतिपादकत्वमभिधेति।

एकार्थप्रतिपादकत्वं,= उभयार्थप्रतिपादकत्वेऽपि अखण्डशक्ति ग्रहेऽर्थे, योगार्थरूपान्यार्थस्यान्वयानाकाङ्क्षत्वाद् रूढिमात्रमभिधेति भावः। अत्र यौगिकरूढेति चतुर्थी अभिधा पण्डितराजदृष्ट्या कदाचित् स्यात्।

अवयवार्थाप्रतिभासाद् यथा (मणिनूपुरमौक्तिकानाम्) मणिः नूपूरो मौक्तिकाश्च।

मणिरित्यत्राव्यक्तयोगः नूपुर इत्यत्रायोगः, मौक्तिक इत्यत्र योगाभासः। मौक्तिकमिति मुक्तामणिः। मुक्तानां समूहइत्यस्य प्रतिभासमात्रात्। न चात्र समूहोऽर्थो विविक्षितः अन्यथा वहुवचनस्योपादानवैयर्थ्यं स्यात्। इत्थं सर्वत्रावयवार्थस्य प्रतिभासो नास्ति। प्रतिभास इत्यस्यैकत्रैव पदे विवक्षितत्वेनार्थस्य बोधो ग्राह्यः।

तत्प्रतिभासेऽपि तस्य प्रतिपाद्ये बाधात् यथा मणिनूपुर-मौक्तिकानामतिमुक्तलक्ष्मीर्युक्तैवेत्यत्र, अतिमुक्तलक्ष्मीरित्यस्य वासन्तीमुकुलशोभेत्यर्थे रूढि र्मुक्तानतिक्रस्य जायमानालक्ष्मीरिति, मुक्तातिशयिनीसम्पदित्यर्थे अवयवार्थः। वाक्यार्थबोधे यद्यपि उभयो रूढ्यवयवार्थयोरभेदाध्यवसानं विना विवक्षितार्थप्रतीति र्न सेत्स्यति तथापि वासन्तीमुकुलशोभार्थे अवयवार्थस्यान्वयो न विवक्षितः अतः प्रतिपाद्ये रूढ्यर्थे तदर्थस्य बाधाद् रूढिरेव।

हे ईश। ब्रह्मस्तुत्यं तव यत् पदकमलं सकृत् प्रपद्य धन्याः मानवा मुक्ताः भवन्ति। तदेव नित्यं भजतां मौक्तिकानां मुक्तात्मा-

तिशायिनीसम्पद् यद् दृश्यते तद् युक्तैव। तथा च मुक्तामणीनां वासन्तीमुकुलशोभा यद् दृश्यते तद् युक्तैवेति।

मणिनूपुरादिति आदिपदेन मौक्तिकस्यापिग्रहणम्। अतिक्रान्तो मुक्तानिति अतिमुक्तोऽवयवार्थः। अभेदाध्यवसायार्थमिति एकपदोपात्तोभयोरर्थयोरभेदाध्यवसाय इति। अभेदाध्यवसायं विना मौक्तिकानां मुक्तात्मनोऽतिक्रान्ततारूपो विवक्षितार्थो न संभवतीति अवयवार्थोऽपि विवक्षितः। किन्त्वस्यावयवार्थस्यातिमुक्तप्रतिपाद्य-वासन्तीलतारूपार्थगतत्वेन नास्तिप्रतिपाद्यत्वम् अतः रूढिरेव। अव्याप्तिरिति- यौगिकरूढस्थलेऽपि क्वचिद्रूढयर्थः क्वचिद् योगार्थः इति यथाविवक्षितं ग्राह्यम्। अतः केवलरूढ्यभिधायाः केवलयोगा-भिधाया लक्षणसङ्गतिरस्त्येव नास्त्यव्याप्तिः। अत एकार्थप्रतिपादक-त्वमित्युक्तम्।

मूल – तत्र लक्षणेऽप्येकपदमर्थवत्। इति।

इन वृत्तियों में अभिधा उसे कहते हैं जो शक्तिग्रहरूप संकेत से अर्थ का प्रतिपादन करती हो। वह तीन प्रकार की है (१) रूढि, (२) योग तथा (३) योगरूढि।

इनमें अखण्ड (अवयवनिरपेक्ष) शक्तिग्रह से एकार्थमात्र की प्रतिपादिका रूढि कही जाती। यहाँ अखण्डशक्ति मात्र' का अर्थ यह है कि रूढ पद में अवयवार्थ का प्रतिभास ही न होता हो अथवा यदि प्रतिभास होता भी हो तो उस पद से प्रतिपाद्य उस रूढ्यर्थ में अवयवार्थ का बाध होता हो। दोनो का उदाहरण जैसे – यत्ते .... इति।

''हे ईश ! जिस, ब्रह्मा से स्तुत्य, आपके चरण कमल को एक बार भी प्राप्त कर धन्य मानव मुक्त हो जाते है उसी चरणकमल की निरन्तर युक्त होकर सेवा करने वाले मणिनूपुर के मौक्तिको की शोभा, या सम्पत्ति उन मुक्तात्माओं को अतिक्रान्त करके यदि विराजित होती हो, तो वह उचित ही है, इसमें आश्चर्य नहीं । क्योंकि वे मौक्तिक, अतिमुक्तलक्ष्मीक है हीं। अतिमुक्त का रूढ्यर्थ वासन्तीलता है। तथा वासन्ती के कुड्मल की शोभा के समान शोभा वाले नूपुरमौक्तिक होते भी है।

यहाँ पर अप्पय्य दीक्षित ने तीनों रूढि स्थलों का उदाहरण दिया है। ये रूढस्थल, अव्यक्तयोग, अयोग तथा योगाभास भेद से तीन प्रकार के होते हैं। मणिनुपुरमौक्तिकानाम्' में तीनों क्रम से 'मणि' अव्यक्तयोग का 'नूपुर' अयोग का तथा 'मौक्तिक' योगाभास का उदाहरण है। इसे वृद्धों ने दिखलाया है। किन्तु एक चौथा भेद भी रूढि का होता है जिसे प्राचीनों

ने नहीं दिखलाया है वह है 'अतिमुक्तलक्ष्मी' पद। अतिमुक्त का अर्थ
वासन्तीलता तथा 'मुक्तात्माओं को अति क्रान्त करने वाला' दो अर्थ है।
दूसरा अर्थ शुद्धयोग है फिर एक पद से प्राप्त होने वाले दोनो पदार्थ
अभिन्न होते हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार दोनों रूढ तथा योगार्थ का
अभेदाध्यवसाय भी विवक्षित है फिर भी इसे द्वितीय रूढि ही माननी
चाहिए योगरूढ नहीं क्योंकि योग रूढ में दोनों अर्थ पहले अपने में
अन्वित होकर एक पदार्थ रूप में, वाक्यार्थ में अन्वित होते हैं यहाँ रूढार्थ
अलग रूप से अन्वित होता है तथा योगार्थ बाधित होने से वाक्यार्थ में
सीधे अनन्वित होने के कारण व्यञ्जनावृत्ति की सहायता से अभेदा-
ध्यवसान का बोध कराता है अतिमुक्तलक्ष्मी से मुक्तात्माओं को अतिक्रान्त
कर उपस्थित सम्पत्ति' यह अर्थ व्यङ्ग्य होता है। इस प्रकार वासन्ती
रूपार्थ में कोई बाधा नहीं है, अत: लिखते है कि ''तत्प्रतिभासेऽपि तस्य
प्रतिपाद्ये बाधात् वा'' इति।

यहाँ मणि नूपुर आदि शब्दों में अवयवार्थ का प्रतिभास ही नहीं है।
अतिमुक्तशब्द का अवयवार्थ प्रतिभासित होकर भी वाक्यार्थ से अन्वित
होने वाले वासन्ती रूप प्रतिपाद्य अर्थ में अन्वित नहीं हो पा रहा है
क्योंकि मणिमुक्ता और मुक्तमानव समूह रूप दो अर्थ मौक्तिक के
प्रतीत होने पर भी नूपुरमौक्तिक केवल वासन्तीमुकुलशोभा को ही ध
ारण कर सकता है, मुक्तात्माओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अत:
कहते हैं कि 'तस्य बाध इत्येषा रूढि:' यद्यपि वासन्तीमुकुलशोभा तथा
'मुक्तात्मातिशायिनीसम्पत्' ये दोनों अर्थ अभिन्नतया प्रतीत हो इसलिए
ही 'अतिमुक्तलक्ष्मी' पद का प्रयोग किया गया है इसलिए अवयवार्थ भी
यहाँ विवक्षित है फिर भी वासन्तीरूपार्थ के प्रतिपादन में इसका कुछ भी
लेना देना नहीं है अत: वासन्ती अर्थ में यह रूढ ही है।

अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योग:।

यथा -

'ऊर्ध्वं विरिञ्चिभवनात्तव नाभिपद्मा-
द्रोमावलीपदजुषस्तमस: परस्तात्।
मुक्तौघमण्डितमुर:स्थलमुन्मयूखं
पश्यामि देव परमं पदमेव साक्षात्।।'

अत्र 'विरिञ्चिभवन-नाभिपद्म-रोमावली'त्यादिशब्दानां योग:। अवयवशक्तिमात्रेण प्रतिपादकत्वमपि- समुदायार्था- प्रतिभासाद्वा, तत्प्रतिभासेऽपि तस्यावयवशक्ति- प्रतिपाद्येऽ{न}-

न्वयाद्वेति द्वेधा। तत्राद्यमुदाहृतम्। द्वितीयं यथा-

'अस्तु त्रयीमयतनुस्तव लम्बनाली-
रत्नैस्तथापि परिभूयत एव भानु:।
सोढ: सतां बत निशान्तमुपागताना-
मेवं तिरस्कृतिकृदीश्वर क: सुवृत्तै:।।'

अत्र 'निशान्त'शब्दस्य निकेतनरूपसमुदायार्थप्रतिभासेऽपि 'निशान्तं त्रियामावसानमुपगतानां सतां नक्षत्राणां तिरस्कृति- कृदन्तर्हितिकृत्, एवं गृहं प्राप्तानां सत्पुरूषाणां पराभवकृत्' इत्यभेदाध्यवसायार्थं तस्य विवक्षितत्वेऽपि त्रियामावसाने योग एव।

अवयवशक्तिरिति। प्रकृतिप्रत्ययाद्यवयवशक्तिमात्रसापेक्षमेकार्थ मात्रप्रतिपादकत्वमभिधा। पदस्य = नेयं वाक्यस्य नच पदैकदेशस्येति।

योगस्योदाहरणम् - यथा ऊर्ध्वमिति।

विरञ्चे रजोगुणवत्वाद् रजस ऊर्ध्वं, तथा च रोमावल्या: कृष्णवर्णत्वात् तमस: परस्तात्, यदुन्मयूखमुर:स्थलं तत् सत्वमेवात: मुक्तजनौघमण्डितमिति। अत: सत्वात्मकं तत्पदं साक्षाद् वैकुण्ठमेव पश्यामि। इतिभाव:।

अत्र भगवतो नाभिपद्मे विरञ्चिनिवासाद् विरञ्चिभवन नाभिपद्मयो र्नास्ति पङ्कजवदेकार्थेऽन्वय:। अत: विरञ्चेर्भवनं, नाभे: पद्मं,रोम्मणामवलिरिति समासायात्तावयवस्यैवकेवलं प्रतिभास: न तु कस्यचित्समुदायार्थस्य। क्वचित्समुदायार्थस्य प्रतिभासेऽपि पूर्ववदवयवशक्तिप्रतिपाद्येऽनन्वयात् नास्ति योगाभिधास्वीकारे क्षति:।

यथा = अस्तु त्रयीमयतनु: ....।

हे ईश्वर ! यद्यपि वेदत्रयाग्नित्रयदेवत्रयेति कृत्वा त्रयीमयतनु:, भानु: स्यात्, तथापि तव ललन्तिकालीरत्नै: स परिभूतो भवत्येव। ग्रैवेयकं कण्ठभूषा लम्बनं स्याल्ललन्तिका' इत्यमर:। यतोहि निशान्तमुपागतानां भवनमागतानां प्रातरागतानां वा, 'निशान्त वत्स्य- सदन'' इत्यमर:। सतां सज्जनानां नक्षत्राणां वा तिरस्कारक: क: एतादृश: अस्ति, य: सुवृत्तै: सदाचारिभि: साधुभि:, वर्तुलाकारैर्वा, सोढव्यो भवति। रत्नमपि सुवृत्तम्, साधवोऽपि सुवृत्ता इति।

निशान्तशब्दः सदनार्थकः, त्रियामावसानार्थकश्च। सदनरूपार्थः समुदायार्थः अपरस्तु योगार्थः, उभयोरर्थयोरभेदावसायार्थ विवक्षितत्वमस्ति तथापि त्रियामावसाने योग एव। तस्य समुदायार्थोऽन्वयानवभासात्। तत्रान्वये सत्येव योगादूढिर्बलीयसीति न्यायस्यप्रवृत्तिः भवति नान्यत्र।

योगरूप अभिधा उसे कहते है जो प्रकृतिप्रत्ययसमासादिशक्ति मात्र से किसी पद का एकार्थ प्रतिपादन करती हो।

यह भी दो प्रकार की होती है पहली तो वह है जहाँ समुदायरूप अर्थ का प्रतिभास नहीं होता, दूसरी वह है जहाँ समुदायार्थ का तो प्रतिभास होता है किन्तु अवयवशक्ति मात्र से प्रतिपाद्य अर्थ में उसका अन्वय नहीं होता है। उनमें पहले का उदाहरण जैसे –

हे देव ! मैं आप के उस वक्षःस्थल को साक्षात् परमपद ही समझता हूँ जो विरञ्चि के आश्रय रूप नाभिकमल से ऊपर है तथा रोमावली स्थान रूप तमोगुण से परस्तात् है। मुक्तौघ (मुक्तामणिगण एवं मुक्तात्मागण) से मण्डित है तथा परमभास्वर है। अर्थात् विष्णुपद (मोक्षस्थान) रजोगुण, तमोगुण से परे साक्षात् सत्वरूप परमभास्वर है।

यहाँ 'विरञ्चि का भवन' केवल यही अर्थ विवक्षित है विरञ्चि का भवन, नाभिकमल नहीं। क्यों कि 'नाभिपद्म' शब्दतः कहा ही गया है। अतः केवल योगरूप अभिधा विरञ्चिभवन में है। ऐसे ही नाभिपद्म भी केवल योग है क्योंकि विरञ्चिभवन उसका अर्थ नहीं कर सकते क्योंकि उसका भी शब्दतः उपादान है। रोमावली में स्पष्टतः योग है ही इन स्थलों में अवयवशक्तिमात्र की प्रतिपादकता है तथा समुदायार्थ का प्रतिभास नहीं है।

दूसरा उदाहरण जिसमें समुदायार्थ का प्रतिभास होते हुए भी शुद्ध योग ही होता है जैसे – अस्तु ....इति।

यद्यपि त्रयीमयतनु (ऋगादित्रयी, ब्रह्मादित्रयी वा) सूर्य माना जाता है फिर भी वह, आप के सुवृत्त, वर्तुलाकार, कण्ठमालारूपललन्तिका के रत्नों, से परिभूत ही किया जाता है क्योंकि हे ईश्वर ! निशा के अन्त में प्रातः गृह आये हुए (सत्पुरूषों के समान) नक्षत्रों के तिरस्कारकर्ता को कौन सदाचारी (सुवत्त) सहन कर सकता है। निशान्त अर्थात् गृह में आए हुए किसी सत्पुरूष के तिरस्कार को जैसे कोई सदाचारी नहीं सहन कर सकता वैसे ही आपके लम्बनालीरत्न नहीं सहन कर रहे है।

यद्यपि यहाँ निशान्तशब्द का गृहरूप समुदायार्थ का प्रतिभास हो रहा है किन्तु प्रकृत सूर्यार्थरूप वाक्यार्थ में निशा का अवसान ही विवक्षित है अतः त्रियामा अवसान में केवल योग है। जब कि

'निशान्तमुपागतानां सतां तिरस्कृतिकृत्'' इसके दो अर्थ, निशा के अन्त में प्राप्त नक्षत्रों का तिरस्कर्ता, तथा गृह में प्राप्त सज्जनो का तिरस्कर्ता' होतें हैं तथा दोनो का अध्यवसायार्थ (अभिन्नार्थत्व) विवक्षित भी है फिर भी निशावसान रूपार्थ में केवल योग ही है।

अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।

'पक्षद्वयेकृशिमपोषविभाव्यमान–
चान्द्रायणव्रतनिषेवण एव नित्यम्।
कुर्वन्प्रदक्षिणमुपेन्द्र सुरालयं ते
लिप्सुर्मुखाब्जरूचिमेष तपस्यतीन्दुः।।'

अत्र 'सुरालय'शब्दस्य 'सुराणाम् आलयः' इत्यवयव-शक्त्या समुदायशक्त्या च कनकाचले योगरूढिः। न च अस्य शब्दस्य कनकाचले रूढिरेव केवलास्तु, मा भूद्योगरूढिः, उदाहृतश्लोके तपश्चर्योत्प्रेक्षायाः प्रदक्षिणी- क्रियमाणस्य कनकाचलस्यावयवशक्त्युपस्थाप्यदेवालयाभेदाध्यवसायेनापि निर्वाहात् इति वाच्यम्। तत्रैवावयवार्थसंभवेऽन्याभेदा-ध्यवसायरूपपरमुखनिरीक्षणायोगात्। तत्रैव यौगिकार्थप्रतिभासस्य सर्वसाक्षिकत्वाच्च। न च एवं सति देवागारसाधारण-क्लृप्तावयवशक्तिमात्रेण कनकाचलेऽपि प्रवृत्युपपत्तेर्न तत्र समुदायशक्तिः कल्पनीया इत्यपि शङ्क्यम्। 'रत्नसानुः सुरालयः' इत्याद्यभिधानकोशस्मृतिपरम्परया विशिष्य तस्य तत्र समुदायशक्तेरपि सिद्धेः। अन्यथा देवतागार इव तत्र विशिष्यानुशासनानपेक्षणे तद्वैयर्थ्यापत्तेः।

अवयवसमुदायोभयान्वितशाक्तिसापेक्षमिति योगरूढिः।

यथा – पक्षद्वयमिति....................।

हे उपेन्द्र ! ते मुखाब्जरुचिं मुखचन्द्ररुचिं लिप्सुः, कृष्णशुक्ल-पक्षद्वये पर्यायक्रमेण क्षयपोषभ्यां विभाव्यमानस्य चान्द्रणव्रतस्य व्रती एष इन्दुः सुरालयं प्रदक्षिणं कुर्वन् तपस्यति।

अत्र सुरालयमिति योगरूढः। सुराणां देवानामालयइति योगः, रत्नसानौ। रत्नसानुः सुरालय इत्यमराद् रत्नसानाविव रूढिः। अतः

पङ्कजवत् एकार्थप्रतिपादकत्वात् सुरालयो योगरूढ़:। शब्देऽत्र न केवलं रूढिर्न च केवलं योग:, एकपदाश्रयत्वे रूढेर्बलीयस्त्वम् निर्दिष्टम्। योगार्थस्याप्यन्वयान्न केवलं रूढि:। निर्योगोदेरेव रूढित्वात्।

ननु यथा अतिमुक्तलक्ष्मीत्यादावयवशक्त्युपस्थाप्यमुक्तातिशायिसम्पदादिवदभेदाध्यवसायार्थमवयवशक्ते: सत्वेऽपि रूढेरुदाहरणं तथैवात्रापि अवयवशक्त्युपस्थाप्यदेवालयाभेदाध्यवसायेनापि सुरालयेत्यस्य कनकाचले रूढित्वनिर्वाह: इति वक्तव्यम्। एकस्मिन्नेवार्थेऽवयवार्थ सम्भवे स्वेतराभेदाध्यवसायरूपस्यायोगात्। एकत्रैव रूढ्यर्थ एव यौगिकार्थान्वयस्य सर्वसाक्षिकत्वाद् योगरूढ:।

न चैवमिति - यथा विरञ्चिभवनादिस्थले ब्रह्माश्रयसाधारणक्लृप्तावयवशक्तिमात्रेण न समुदायशक्तिर्नाभिकमलादौ कल्प्यते तथा च केवलं योगाभिधाश्रीयते तथैवात्रापि देवागारसाधारणा दिक्लृप्ताऽवयवशक्ति: कल्पयितुं शक्यते। यतोहि रत्नसानु:सुरालय इति कोशस्मृते: समुदायशक्तेरपि सिद्धात्वाद् अन्यथा विशिष्यानुशासनानपेक्षेण देवतागारप्रयोग: स्यात् सुरालयपदप्रयोगस्य तत्सापेक्षस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च।

अवयव तथा समुदाय दोनों शक्तियों के सापेक्ष, यदि एकार्थ की प्रतिपादकता हो तो योगरूढि अभिधा होती है। जैसे - पक्षद्वये इति

हे उपेन्द्र। आपके मुखचन्द्र की कान्ति को प्राप्त करने की इच्छा से चान्द्रायणव्रती चन्द्र नित्य सुरालय (सुमेरु तथा देवालय) की प्रदक्षिणा करता हुआ तपस्या कर रहा है। चन्द्र का चान्द्रायणव्रत कृष्णपक्ष में क्रमश: क्षीणत्व से, तथा शुक्ल पक्ष में क्रमश: वृद्धत्व से स्पष्ट प्रतीत है।

यहाँ सुरालायशब्द, 'देवताओं का आलय' रूप योगार्थ तथा 'सुमेरुपर्वत' रूप समुदायार्थ दोनों अर्थो से समन्वित होकर 'सुमेरु रूपएकार्थ में विश्रान्त हो रहा है अत: यहाँ योगरूढि है।

यदि यह कहें कि योगाद्रूढिर्बलीयसी' इस न्याय से सुरालयशब्द का कनकाचल अर्थ में केवल रूढि ही क्यो न मान ली जायें । योगरूढि ही क्यों मानी जाय ? क्यों कि यहाँ पर भी 'अतिमुक्त' शब्द की भाँति एक पद से होने वाले दोनों अर्थो मे अभेदाध्यवसाय से ही चन्द्र में उत्प्रेक्षित तपश्चर्या हेतु, कनकाचल के प्रदक्षिणीकरण में, अवयवशक्ति से होने वाला देवालय रूपार्थ भी गृहीत हो ही जायेगा, तो ऐसा नही कह सकते। क्येंकि 'सुमेरु' में ही देवालय रूप अर्थ का भी अन्वय होने से, अपने से भिन्न किसी अन्यार्थ के साथ होने वाले अध्यवसायरूपार्थ लक्षण यहाँ

घटित नही हो सकता। अध्यवसायार्थ में अनन्वित ही दोनो अर्थ होते है अत: कहते है कि 'अन्याभेदाऽध्यवसायरूपपरमुखनिरीक्षणायोगात्' इति।

यदि यह कहें कि यहाँ 'सुमेरु' रूपार्थ में वस्तुत: समुदायशक्ति न मानकर, कल्पना से समुदायशक्त्यर्थ 'सुमेरु' का ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि सुरालय से अवयवशक्ति द्वारा प्राप्त देवालय रूपार्थ से भी 'सुमेरु' रूपार्थ गृहीत हो ही सकता है, तो यह भी नहीं कह सकतें। क्योंकि सुरालय का सुमेरु या रत्नसानु अर्थ कोश से सिद्ध है अत: कल्पना या आक्षेप यहाँ सम्भव नही है। यदि ऐसा नहीं होता तो 'सुरालय' के स्थान पर 'देवतागार' का भी प्रयोग हो सकता था। किन्तु 'देवतागार' रूप विशेषवाचकशब्द 'सुमेरु' अर्थ में, कोश से अनुशासित नहीं है, अत: 'सुरालय' रूप विशेषपद में यदि 'देवागारवत्' कोषानुशासन की अनपेक्षा करते हैं तो सुरालय पदप्रयोग की व्यर्थता होगी। अत: यहाँ योगरूढि ही मानी जानी चाहिए।

अत एवैतादृशपदे सति पुन: समुदायार्थवाचकपदप्रयोगे पुनरूक्तदोषोल्लास:। यथा–

'भद्राय भवतु भवतां भगवान्भजमानदैन्यतिमिररवि:।
दिवसारम्भविकस्वरनीरजनलिनाभिरामतरनयन:।।'

यत्र योगरूढिमतोऽपि पदस्यावयवार्थशक्तिमूलप्रतीयमानार्थगर्भीकारेण तत्रैव विश्रान्ति:, तत्र समुदायार्थवाचकपदान्तरप्रयोगेऽपि न पुनरूक्तदोषोल्लास:। यथा-

'उद्यन्मृगाङ्करुचिकन्दलकोमलाना-
मुन्निद्रशोणनलिनोदरसोदराणाम्।
प्राप्तुं तवाधररुचामवलोकनेन
नालं सहस्रनयन: स वृषापि तृप्तिम्।।'

अत्र 'सहस्रनयन'शब्दस्यावयवार्थशक्त्यावलोकनप्रकर्षसंभवप्रतीतेस्तत्रैव विश्रान्तिरिति पुनरिन्द्रवाचिपदप्रयोग:। यथा वा -

'तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।।'

अत्र 'पिनाकपाणि'शब्दस्य शिवनाम्नोऽवयवार्थशक्त्या तदायुधसारत्वप्रतीतेस्तत्रैव तस्य विश्रान्तिरिति पुन: 'हर'-

पदप्रयोगः। ननु- 'कुसुमायुधोऽपि' इत्यत्रावयवार्थशक्त्या तदायुधासारत्वप्रतीतावपि कामवाचिपदान्तरं नोपात्तम् इति चेत्, न। तत्राप्युत्तमपुरुषाक्षिप्ताहंपदस्य विशेष्यवाचिनः सत्वादिति साहित्यचिन्तामणिकारः। वस्तुतस्तु - नायं नियमः, यत् 'अवयवार्थशक्तिमूलप्रतीयमानार्थविवक्षायां समुदायार्थवाचिपदान्तरं प्रयोक्तव्यम्' इति, किंत्वयमपि प्रकारोऽस्तीत्युदाहृतम्। तदप्रयोगे यथा -

'मन्ये निजस्खलनदोषमवर्जनीय-
मन्यस्य मूर्ध्नि विनिवेश्य बहिर्बुभूषुः।
आविश्य देव रसनानि महाकवीनां
देवी गिरामपि तव स्तवमातनोति॥'

अत्र 'वागीश्वरीपदादवयवार्थशक्त्या प्रतीयमानस्य विद्याविषये स्खालित्यापवादमितरवत्सरस्वती न सहते' इत्यर्थस्य वाच्यस्योपस्कारकतया विवक्षितत्वेऽपि 'वाचामधिदेवतापि यत्र भगवतः स्तोत्रे न पर्याप्तं सामर्थ्य बिभर्ति, तत्र कथमन्येऽधिकुर्युः' इत्यर्थापत्यलंकारध्वननसत्वेऽपि न पृथक्सरस्वतीवाचकपदप्रयोगः। एकावलीकृतापि विशेष्यस्य साभिप्रायत्वं परिकरालंकारलक्षणमभिधाय, -

'नरसिंह महीपाल कीर्तिस्त्रिपथगा तव।
न कस्य भवति श्लाध्या पुनाना भुवनत्रयम्॥'

इति तदुदाहरणे भुवनत्रयपवित्रीकरणोपपत्यभिप्रायगर्भ त्रिपथगापदं विशेष्यमेव प्रयुञ्जानेन तत्प्रयोगानियमो दर्शितः।

तस्मात् योगरूढिमतः पदस्य यौगिकार्थशक्तिमूलप्रतीयमानार्थ-गर्भाकारेण समुदायार्थवाचिपदप्रयोगाप्रयोगाभ्यां द्वैविध्यमेवादृतम्, न पुनस्तत्प्रयोगनियमः।

अतएवैतेति ....। अतः एतादृशयोगरूढस्थले रूढपदप्रयोगे पुनरुक्तिदोषोल्लासोऽपि संभाव्यते। यथा – भद्रायेति ......।

भजमानदैन्य..... सेवकदैन्यरूपान्धकाराय रविरूपः, तथा च दिवसारम्भ ...... प्रातः विकाशोद्युक्तजलजातनीलकमलवत्

मनोहरनेत्रो भगवान् भवतां कल्याणाय भवतु।

अत्र नीरजनलिनेत्यत्र योगरूढिमतो नीरजशब्दस्य सत्वेऽपि केवलावयवार्थजलजातत्वरूपप्रतीयमानर्थस्य गर्भीकारेण केवलमवयवार्थ एव विश्रान्तिः, अतः समुदायार्थवाचकनलिन पदप्रयोगेऽपि न पुनरूक्तत्वदोषोल्लासः। यथा च

उद्यन्मृगाङ्क .... इति।

उद्यान्निति ....। समुदयच्चन्द्रकान्तिकन्दलमनोहराणां उन्निद्रेति .... विकसितरक्तकमलोदरसदृशानां तव अधररुचां, अधरोष्ठकान्तीनां दर्शनेन सहस्रलोचन इन्द्रोऽपि तृप्ति प्राप्तुं न प्रबभूव, किमुतान्यः।

अत्रावलोकनप्रकर्षसंभवप्रतीतेरवयवार्थमात्रार्थत्वं, सहस्रनयनस्य विश्रान्तं, पुनरिन्द्रवाचिपदप्रयोगो न पुनरुक्तदोषोल्लासाय भवति। अन्यदपि यथा – तवप्रसादात्कुसुमा ....।

मधुं वसन्तमेव एकं सहायकं प्राप्य कुसुमायुधोऽपि (अहं) तव प्रसादात् पिनाकधनुर्धारिणो हरस्यापि धैर्यस्खलितत्वं कुर्याम् ममाग्रे अन्येषां धनुर्धारिणां का वार्ता।

शिवस्यापरपर्यायस्यैव पिनाकपाणेः पदस्य केवलं पिनाकायुधसारप्रत्यायकत्वात तदर्थमात्र एव विश्रान्तत्वात् शिवार्थबोधाय पुनः हरपदस्य प्रयोगोऽस्ति। अतोऽत्रापि न पुनरुक्तदोषस्याऽवसरः।

इत्थं स्पष्टमेतद् यद् योगरूढरूढ्योरुभयोः पदयोः यत्र सहैव प्रयोगस्तत्र योगरूढपदस्य रूढिलक्षणया केवलं योगार्थ प्रत्यायकत्वान्नास्ति पुनरुक्तदोषोल्लासस्यावसरः।

यत्र तु केवलं योगरूढस्यैकस्यैव प्रयोगस्तत्र द्वयी गतिः। प्रथमा तु यत्र योगस्य कुर्वद्रूपत्वं नास्ति तत्र योगर्थस्याकिञ्चित्करत्वात् योगाद्रूढिर्बलीयसी इति न्यायात् केवलं रूढार्थ एव गृह्यते। द्वितीया तु यत्र योगार्थस्यापि कुर्वद्रूपत्वमथवा विवक्षितत्वं तत्राभिधया अन्वितस्यैवार्थस्योल्लासानन्तरं वाच्यार्थपर्यवसितिः, पुनः प्रत्यायनेन व्यञ्जनेन वा योगार्थमात्रस्य प्रत्यायकत्वं गृह्यते। अतोऽत्रैव ''कुसुमायु-धोऽपि'' इत्यत्र कामपर्यायिस्यान्यस्य प्रयोगो न लभ्यते तथापि योगरूढ्या, कामरूपार्थप्रत्ययानन्तरं व्यञ्जनया तदायुधासारत्व–प्रतीतिर्जायते। यद्यपि साहित्यचिन्तामणिकारः कुर्याम्'' इति पदस्थमिपप्रत्ययाक्षिप्ताहं पदस्य विशेष्यवाचिनेऽपि सत्वं गृह्यते किन्तु

वस्तुतस्तदाक्षेपं विनाऽपि विवक्षितप्रतीतिर्भवितुं शक्नोति। अभिधया कामरूपार्थस्य प्राप्तेरनन्तरं प्रत्यायनेन तदायुधसारत्वस्यापि प्रतीति-लाभात्। अत उच्यते 'यदवयवार्थ- शक्तिमूलप्रतीयमानार्थ- विवक्षायां समुदायार्थवाचिपदान्तरं प्रयोक्तव्यमिति नायं नियमः। किन्त्वयमेक-प्रकारोऽस्तीति। यथा मन्ये निजस्खलन ....।

हे देव (तवस्तवने) अवर्जनीयं स्वस्खलनदोषं अन्यस्य कवयितुर्मूर्ध्नि शिरसि निधाय बहिर्भवितुमिच्छुः गिरामपि देवी सरस्वती महकवीनां रसनानि विनिविश्य तव स्तवनं करोति।

अत्र 'गिरां देवी' इतिपदं योगरूढः। सरस्वतीति अभिधया बोधः। तथा च विद्याविषये स्खलितत्वापवादं अन्यजनवत् सरस्वती न सहत इति वाच्यवाक्यार्थबोधस्योपस्कारकतया वागीश्वरी-रूपप्रतीयमानार्थ उपस्कारकः। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपोपस्कृतवाच्यात् 'वाचामधिदेवताऽपि यत्र भगवतः स्तोत्रे न पर्याप्तं सामर्थ्यमादधाति तत्र कथमन्ये जीवा समर्था इत्यर्थापत्यलङ्कारो ध्वन्यते। अत्र योगरूढपदस्य 'गिरां देवी' इत्यस्यैव प्रयोगो न तु रूढस्य सरस्वती-वाचकपदस्य। एकावलीकारेणापि परिकरालंकारनिरूपणावसरे एतदेव निर्दिष्टम्। यथा– नरसिंह महीपाल..........।

हे महीपाल ! भुवनत्रयं पवित्रयन्ती साक्षात् त्रिपथगा ते कीर्तिः कस्य प्रशंसनीया न भवति।

अत्र त्रिपथगापदं योगरूढः। भुवनत्रयपवित्रीकरणोपपत्ति-गर्भः, पथत्रयगामित्वरूपो योगार्थः। गङ्गापदस्य रूढस्य नास्ति प्रयोगः। अतः रूढस्य प्रयोग एव करणीयः योगरूढेन सहेति नास्ति नियमः।

इसलिए ऐसे योगरूढ स्थल में यदि समुदायवाचक रूढ पद का पुनः प्रयोग हो तो पुनरूक्तदोष होगा। क्योंकि रूढार्थ भी योगरूढ पद में सन्निहित है।

यहाँ विशेषतः ध्यान देने योग्य यह है कि अभिधा से तो पुनरूक्त दोष दुरूद्धर है किन्तु यदि विशेष अर्थ में योगरूढ पद की लक्षणा कर ली जाय तो पुनरूक्त नहीं होगा। योगरूढ पद से योगसमन्वितरूढार्थ अभिधा से गृहीत होता है यदि रूढार्थ को छोड़कर केवल योगरूपार्थ में योगरूढ पद की लक्षणा कर ली जायँ तो पुनरूक्तदोष का निरास हो जायेगा। जहाँ केवल योगरूढ पद का ही प्रयोग है तथा योगार्थ विवक्षित है वहाँ व्यञ्जना का आश्रयण लेना होगा। यदि कहीं व्यञ्जना सम्भावित

न हों वाक्यार्थ में ही योगार्थ मात्र का अन्वय होता हो तो वहाँ लक्षणा भी स्वीकारी जा सकती है। इस सम्पूर्ण संघट्ट का तात्पर्य इसी में छात्रों को रखना चाहिए। तभी ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट हो सकेगा। अन्यथा विद्वानों से भी ग्रन्थार्थ दुरुद्धर होगा।

अभिधा से पुनरुक्तदोषोल्लास के उदाहरण जैसे- भद्राय भवतु ....।

वह भगवान् आप के कल्याण के लिये हो, जो भक्तो के दैन्यरूपी अन्धकार के लिए साक्षात् सूर्य है, तथा जिनके नयन, प्रातः विकासोन्मुख जलोत्पन्न नीलकमल के समान सुन्दर हैं।

'नीरजनलिन' यहाँ नीरजपद योगरूढ है। यह नीरोत्पन्ननलिनरुपार्थ का वाचक है पुनः नलिन शब्द का प्रयोग होने से पुनरुक्त दोष स्पष्ट है। यदि यहाँ नीरजशब्द केवल योगशक्तिमूलप्रतीयमान अवयवार्थ की प्रतीति कराता तो नलिनपद के प्रयोग से भी पुनरूक्तदोष नही होता। यह भी उदाहरण इसी प्रकार है। - जैसे कि उद्यन्मृगाङ्क .... इति।

हे भगवन् ! आप के उस अधरोष्ठकान्ति के अवलोकन से तृप्ति प्राप्त करने में, सहस्रनेत्रो वाले वृषा (इन्द्र) भी समर्थ नहीं है जो उदित होते हुए चन्द्र की कान्तिकन्दल के समान कोमल तथा विकसित रक्तकमल के मध्यभाग के सदृश है।

यहाँ सहस्रनयन' शब्द, अवलोकन प्रकर्ष की प्रतीति के कारण योगार्थ मात्र में विश्रान्त है अतः इन्द्रवाची वृषा शब्द के प्रयोग से भी पुनरूक्त दोष नहीं है।

इसी प्रकार यह भी है जैसे- तव प्रसादात् ....।

काम इन्द्र से कह रहा है कि हे प्रभो ! आप की कृपा से कुसुम अस्त्रों वाला भी मैं एक मात्र वसंत को सहायक लेकर पिनाकपाणि हर को भी धैर्य से स्खलित कर सकता हूँ अन्य धनुर्धारियों की वार्ता ही क्या करूँ।

यहाँ शिव का पर्याय पिनाकपाणि शब्द, शिव के आयुधसारत्व की प्रतीति के लिए, केवल अवयवार्थ मात्र में विश्रान्त है अतः पुनःप्रयुक्त शिव का ही पर्याय हर पद से पुनरुक्त दोष नहीं होता है। इसी प्रकार 'कुसुमायुधोऽपि' शब्द भी काम के आयुध की असारत्वप्रतीति के लिए अवयवार्थमात्र में विश्रान्त है किन्तु काम का पर्यायान्तर नहीं है फिर यहाँ रूढ्यर्थ काम की प्रतीति कैसे होगी, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'कुर्याम्' पद में उत्तमपुरुष के एकवचन से ''अहं'' पदका आक्षेप हो जायेगा इस प्रकार विशेष्य रूढ्यर्थ 'अहं' का भी प्रयोग मान लिया जायेगा। ऐसा साहित्यचिन्तामणिग्रन्थ के रचयिता का मत है।

अप्पय्यदीक्षित का मत है कि– वस्तुतः यह नियम नहीं है कि जहाँ

योगार्थ मात्र की प्रतीति योगरूढशब्द से करानी हो वहाँ विशेष्य रूढ्यर्थ के लिये रूढ पद का प्रयोग करना ही चाहिए बल्कि यह भी एक नियम है कि रूढ पद का प्रयोग भी करें। यदि न करें तो कोई हानि नहीं। जैसे यहाँ विना रूढ पद के ही योगरूढ पद का योगार्थ मात्र के लिये प्रयोग किया गया है। जैसा कि- मन्ये निजस्खलन ....।

हे देव आप के स्तवन में, अवर्जनीय अवश्यसम्भावित अपने स्खलन दोष को दूसरे के शिर पर पर मढकर बाहर होने की इच्छा से सरस्वती, महाकवियों की जिह्वा पर अश्रित होकर, आपका स्तवन करती है।

यहाँ विद्याविषय में स्खलनापवाद को अन्य लोगों के समान सरस्वती नहीं सहन करती है इस वाच्यार्थ, के उपस्कारक के रूप में गिरा देवी पद का प्रतीयमान वागीश्वरी रूपावयवार्थ विवक्षित है तथा उससे उपस्कृत यह वाच्यार्थ्य 'वागीश्वरी भी जहाँ भगवान् के स्तोत्र में पर्याप्त सामर्थ्य नहीं रखती वहीं अन्य लोग कैसे समर्थ हो सकते है 'इस अर्थापत्यलंकार को ध्वनित करता है। यहाँ 'गिरां देवी' के अतिरिक्त सरस्वती का वाचक कोई पदान्तर नहीं प्रयुक्त है। फिर भी दोषावह नहीं है।

एकावलीकार ने भी साभिप्राय विशेष्य लक्षण वाले परिकराडकुरालंकार के सन्दर्भ में योगरूढपद के रहते रूढपदप्रयोग में नियम नहीं माना है। जैसा कि नरसिंह ....।

हे नरसिंह महीपाल ! तीनो भुवनों को पवित्र करने वाली आप की त्रिपथगारूपी कीर्ति, किससे प्रशंसनीय नहीं होती।

यहाँ साभिप्राय विशेष्य के रूप में प्रयुक्त त्रिपथगापद, तीनो भुवनों के पवित्रीकरण की उपपत्ति के अभिप्राय से प्रयुक्त है, विशेष्यवाची कोई पर्यायान्तर यहाँ भी नहीं है अत: पर्यायान्तर के प्रयोग को नियम नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार योगरूढ पद, जब केवल यौगिकार्थशक्तिमूल प्रतीयमान योगार्थ को अन्तनिर्हित किये हो, तो समुदायार्थवाची पर्यायान्तर का प्रयोग होता भी है तथा नहीं भी होता है। इन दोनो प्रकार की प्राप्ति होने से पर्यायान्तर प्रयोग करना ही कोई नियम नहीं है।

कचिद्योगरूढिमत: पदस्य विषयविशेषेऽवयवार्थानन्वयात्समुदायार्थमात्रे विश्रान्तिः। यथा-

'उल्लासयत्युदरबन्धनिबद्धदिव्य-
शोणाश्मरश्मिकलिकावलिरच्युतैषा।
आगाम्यनेकशतकल्पविधातृगर्भ-

नाभ्युद्गताम्बुरुहकुड्मलपङ्क्तिशोभाम्।।'

अत्र 'अम्बुरुह'पदस्य भगवन्नाभिपद्मेऽवयवार्थानन्वयाद्रूढिरेव। क्वचित्तु समुदायार्थानन्वयादवयवार्थमात्रे तत्र विश्रान्तिः। यथा -

'कह्लारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु
लोकेश यत्कमलमेव तथा प्रसिद्धम्।
मन्येऽभिजातभवदास्यतुलास्य नेति
मर्मप्रकाशनमिदं विधिनैव क्लृप्तम्।।'

अत्र 'पङ्कज'पदस्य कुमुदकह्लारादिषु समुदायार्थानन्वयाद्योग एव।

नैयायिकास्तु— पङ्कजादिशब्दरूपैकपदोपादानरूपान्तरङ्ग-प्रत्यासत्या नाभिकमलकुमुदाद्यन्वयात्प्रागेव पङ्कजनिकर्तृत्व-वैशिष्ट्येनोपस्थितस्य पद्मत्वस्य, पद्माश्रयत्वेनोपस्थितस्य पङ्कजनिकर्तृत्वस्य च नाभिकमलकुमुदाद्यन्वये नाकाङ्क्षा; न चाविशिष्टस्य तदन्वयविषयिणी शाब्दधीः, इति तदन्वयार्थं स्वतन्त्रपद्मत्वपङ्कजनिकर्तृत्वोपस्थितये पङ्कजादिपदस्य लक्षणैवाभ्युपगन्तव्या, न तु रूढिर्योगो वा। न च- प्रथमं योगरूढिभ्यां स्वार्थोपस्थाने पश्चान्नाभिकमलाद्यन्वयार्थं विरूद्धवृत्तिमूकीभावे तदितरवृत्त्यैव स्वतन्त्रपद्मत्वाद्युपस्थिते-राकाङ्क्षादिसंभवान्न तदर्थमिह लक्षणा-इति वाच्यम्, केवलरूढ्यादिना स्वतन्त्रपद्मत्वाद्युपस्थित्यर्थं शब्दस्य पुनरनु-संधानकल्पनागौरवापत्तेः। लक्षणापक्षे तु नायं दोषः, पङ्कजनिकर्तृत्वसंवलितपद्मत्वरूपविशिष्टोपस्थितेर्विशेषण-विशेष्यान्यतरोपस्थितिलक्षणद्वारत्वेन द्वारे सति द्वारिणः पुनरनपेक्षणात्। न च- शक्योपस्थितिर्लक्षणायामिव शक्योपस्थित्यन्तरेऽपि द्वारम्। येन रूढ्यादिना स्वतन्त्र-पद्मत्वोपस्थितावपि पुनरनुसंधानं न कल्प्येत - इत्याहुः।

इत्थमभिधा त्रिविधा निरूपिता।

नन्‌ यत्र योगरूढ-रूढयोरुभयोः प्रयोगस्तत्रयोगरूढस्य रूढिलक्षणया केवलावयवार्थबोधे वाक्यार्थबोधो दर्शितः। यत्र तु केवलं योगरूढपदं तत्र रूढ्यर्थस्य वाक्यार्थान्वयानन्तरं व्यञ्जनया प्रत्यायनेन वा योगार्थः गृहीतः, किन्तु यत्र वाक्यार्थान्वयबोधायैव केवलं योगार्थस्यावश्यकता तत्र का गतिः। नहि द्वितीयक्षणभाविनो प्रतीयमानस्य प्रथमक्षणभाविवाच्येन सहान्वयः सुलभः येन वाक्यार्थः सुघटो भवेत् इति मनसि निधाय पुनः योगरूढपदस्य केवलसमुदायार्थपरत्वं तथा च केवलावयवार्थपरत्वं दर्शयति।

तस्मादिति -

योगरूढपदस्य यौगिकार्थशक्तिमूलकेवलयोगार्थरूप (लक्ष्य) प्रतीयमानार्थगर्भीकारेण रूढपदस्य प्रयोगाप्रयोगाभ्यां द्वैविध्यं दर्शितम्। अतो यत्र योगरूढस्य समुदायार्थमात्रे विश्रान्तिस्तत्र योगाद्रूढिर्बलीयसी इति न्यायबलात् केवलरूढ्यर्थेन वाक्यार्थनिर्वाहः यथा - उल्लायत्युदर ....।

एषा कटिप्रदेशनिबद्धशोणमणिकान्तिकुड्मलावलिः आगामिभि-र्भाविभिरनेकशतकल्पविरञ्चिभिर्निचितानां नाभिपद्मकुड्मलानां पङ्क्तेः शोभां उल्लासयति।

अत्राम्बुरूहपदं योगार्थनिरपेक्षत्वेन केवलपद्मरूपार्थत्वेनान्वयाद्रूढिरेव। अत्र तु कथञ्चिदुक्तन्यायेनाभिधयैव वाक्यार्थो घटते। किन्तु यत्र समुदायार्थानन्वयादवयवार्थमात्रेण तस्य विश्रान्तिस्तत्र का गतिः ? यथा = कह्लारकैरवमुखेषु ....।

हे लोकेश ! रक्तकमलकुमुदकमलाद्यभिधायिषु पङ्कजेषु यत्केवलं कमलमेवाभिधया प्रसिद्धं तत्र मन्ये विधिनैव किमपि मर्मप्रकाशनं कृतम्। किं मर्मेति चेत्? (कम् प्रति अलमिति असमर्थमिति कमलम्)। अथवां तस्य पङ्कजत्वेनैवाभिजातत्वेन प्रसिद्धस्य सह का तुलना। अभिजातं भवदास्यविशेषं प्रत्यलमिति विचिन्त्य विधिनाकमलमेवार्थः पङ्कजस्य गृहीतः। अतः अभिजातभवन्मुखतुलनाऽस्य नास्ति इति मन्ये।

अत्र कुमुदादादीनाम् पङ्कजनिकर्तृत्वेनान्वयात् समुदायार्थवत्कमल-रूपत्वेनानन्वयाच्च केवलं पङ्कजपदस्य योगार्थ एव तेष्वभीष्टः इति केवलं योगः।

ननु नियतार्थोपस्थापकत्वमेवाभिधेति कथं क्वापि केवलं रूढ्यर्थस्य क्वापि केवलं योगार्थस्योपस्थानमभिधया संघटते इति प्रश्नं नैयायिकपथा समादधति। नैयायिकास्तु इति। पङ्कजपदस्य पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्टपद्मत्वं तथा च पद्मत्वविशिष्टपङ्कज-निकर्तृत्वमित्यभिधया प्रतिपाद्यते। अतो योगरूढस्य पङ्कजस्य नाभिकमलकुमुदादावन्वयः प्राग् न सम्भवति। यतोहि अविशिष्टस्य योगरूढपङ्कजशब्दस्यान्वयविषयिणी शाब्दधीरेव नौदेति। अतः नाभिकमलकुमुदादावन्वयार्थ लक्षणया पङ्कजादिशब्दस्य स्वतन्त्रतया केवलतया, पद्मत्वस्य पङ्कजनिकर्तृत्वस्य चोपस्थितिर्भवति, तदानीं लक्ष्यार्थस्य पङ्कजनिकर्तृत्वमात्रयोगार्थस्य कुमुदादावन्वय इति वाक्यार्थः सुघटः।

ननु मा भूत् लक्षणा, योगरूढिभ्यामभिधाभ्यामेव पृथक् पृथगर्थलाभः, कथं न भवति इति चेत् उच्यते न च प्रथमं इति।

योगरूढपदस्य अम्बुरूहपङ्कजादेः स्वार्थोपस्थाने जाते पश्चान्नाभिकमल पङ्कजनिकर्तृत्वाद्यन्वयार्थं योगरूढिभ्यामभिधाभ्याम-न्यतरस्या विरूद्धवृत्तेर्मूकीभावे आकाङ्क्षादिवशात् स्वेतरवृत्त्यैव स्वतन्त्रपद्मत्वपङ्कजनिकर्तृत्वाद्युपस्थितेः सम्भवात् स्वतन्त्रार्थाय लक्षणा न स्वीकर्तव्या, इति न वाच्यम्, योगार्थस्य रूढ्या नियन्त्रितत्वेन, केवलरूढ्या केवलयोगेन वा स्वतन्त्रतया पद्मत्वस्य पङ्कजनिकर्तृत्वस्य वोपस्थित्यर्थं शब्दस्य पुनरनुसन्धानमपेक्ष्येत अतः पुनरनुसन्धानकल्पनागौरवत्यागाय न केवलरूढ्यादेरभिधाया विषयः। लक्षणायाः स्वीकारे न गौरवापत्तिः। योगरूढ्याभिधयापङ्कजनिकर्तृत्व संवलितपद्मत्वरूपविशिष्टस्योपस्थित्यनन्तरं लक्षणया, क्वचिद् विशेषणस्य पङ्कजनिकर्तृत्वस्य क्वचिद् विशेष्यस्य पद्मत्वस्य चोपस्थितौ नास्ति बाधेति द्वारस्य लक्षणाया सत्वे द्वारिणः लक्ष्यस्योपस्थितिर्भविष्यत्येव। सति द्वारे द्वारिणोऽनुपेक्षणात्। न च यथा लक्षणायां शक्योपस्थितिर्द्वारं तथैव योगार्थरूढार्थान्यतर शक्यापस्थितावपि सैवशक्योपस्थितिर्द्वारं कल्पयितुं शक्यते, येन रूढ्यादिना स्वतन्त्रपद्मत्वाद्युपस्थितौ शब्दस्य पुनरनुसन्धानं न कल्प्येत। अत एतादृशस्थले लक्षणा स्वीकर्तव्येतिभावः। इत्थम-भिधानिरूपिता।

जब पर्यायान्तर का प्रयोग नहीं होता है तथा योगरूढपद केवल रूढ अर्थ का प्रतिपादन करता है, वहाँ 'योगाद्रूढिर्बलीयसी न्याय से वाक्यार्थ बोध में अभिधा बाधित नहीं होती, किन्तु जहाँ वाक्यार्थबोध में रूढ्यर्थ को छोड़ कर केवलयोगार्थ का वाक्यार्थ मे अन्वय करना पड़ता है वहाँ लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु नैयायिकों ने दोनों स्थलों में लक्षणा ही स्वीकार की है। क्योंकि योगरूढ पद प्रयोग के कारण अन्तरङ्ग प्रत्यासत्ति स योगार्थ तथा रूढार्थ समन्वित होकर ही वाक्यार्थ में अन्वित होने की आकाङ्क्षा रखते है अलग–अलग अन्वित होकर शाब्दबोध कराने की क्षमता (अभिधा से) इनमें नहीं होती अत: उनके मत में दोनों योगार्थमात्र को, या रूढ्यर्थ मात्र को स्वतन्त्रतया वाक्यार्थ में अन्वित होने के लिए लक्षणा का आश्रय लेना होगा।

अत: योगरूढपद के अवयवार्थ का विषयविशेष में अन्वय उचित न होने पर, केवल समुदायार्थ मात्र का जब अन्वय अपेक्षित होता है तो, समुदायार्थ मात्र में ही योगरूढ पद की विश्रान्ति होती है। जैसा कि – उल्लासयत्युदर ....।

हे अच्युत आप के कटिभाग में निवद्ध लालमणि की कान्तिकलिकाओं की पंक्तियाँ, भावी सैकड़ों कल्प के विधाताओं को गर्भ में लिए हुए नाभिकमल के मुकुलों की पंक्तियों की शोभा को उल्लसित कर रही हैं।

यहाँ 'नाभ्युद्गताम्बुरुह' में अम्बुरुह योगरूढपद, का योगार्थ भगवान् के नाभिकमल रूप अर्थ के लिए अनुपयुक्त होने से केवल कमलरूप रूढ्यर्थ में यह पद विश्रान्त हो रहा है।

कहीं समुदायार्थ का अन्वय न होने से योगार्थ मात्र में इसकी विश्रान्ति होती है जैसे कह्लारकैरव ....।

हे लोकेश ! पङ्क से उत्पन्न होने वाले कल्हार कैरव कमल आदि पदार्थों में, 'कमल' ही जो पङ्कजशब्द से प्रसिद्ध है इससे स्पष्ट है कि मनोहर, सदुद्भव, अभिजात आप के मुख की तुलना उसमें नहीं है इस गूढ रहस्य का प्रकाशन ब्रह्मा ने ही कर दिया है। कहाँ पङ्कज कमल कहाँ अभिजात मुख। नाम से ही पङ्कज (कमल) की तुलना 'अभिजात' से नहीं की जा सकती।

यहाँ 'पङ्कज' योगरूढपद है रूढि केवल कमल में है अत: कमल रूपअर्थ का अन्वय कल्हारकुमुदादि में नहीं हो सकता। केवल योगार्थ पङ्कजनिकर्तृत्व ही कल्हारादि में अन्वित हो रहा है अत: यहाँ केवल योगार्थ में विश्रान्ति है।

यहाँ नैयायिक कहते हैं कि 'पङ्कज' आदि योगरूढ पद का उपादान होने के कारण अन्तरङ्गप्रत्यासत्ति से इसका केवल रूढ्यर्थ कमलार्थ का या केवल पङ्कजनिकर्तृत्व योगार्थ, का ही क्रमश: नाभिकमल एवं कुमुदादि

में अन्वय होते है। किन्तु इसके पूर्व ही पङ्कजनिकर्तृत्ववैशिष्ट्य से उपस्थित पद्मत्व विशिष्ट का या पद्म के आश्रितत्वेन उपस्थित पङ्कजनिकर्तृत्व रूप विशिष्ट का, जो अभिधा से प्राप्त है नाभिकमल या कुमुदादि में अन्वय की आकङ्क्षा नहीं है। अविशिष्ट अलग–अलग अन्वयविषयिणी जो शाब्दधी अभीष्ट है, वह अभिधा से नहीं हो सकती अत: अभीष्ट अन्वय के लिए योगरूढ पद से, स्वतन्त्रतया केवल पद्मत्व याा केवल पङ्कजनिकर्तृत्व की उपस्थिति के लिए, लक्षणा ही स्वीकार करनी होगी न कि अलग - अलग कही रूढि, तथा कही योग रूप अभिधा।

यदि यह कहें कि योगरूढ पद की योग एवं रूढि वृत्तियों से स्वार्थोपस्थिति के पश्चात्, नाभिकमल आदि रूप विशेष अर्थ के अन्वय के लिए जब (योग या रूढि में से) एक वृत्ति अन्वयविरोध के कारण मूक हो जायँ तो दूसरी वृत्ति से स्वतन्त्र पद्मत्व आदि की उपस्थिति होकर आकाङ्क्षादिवशात् अन्वय सम्भव ही है फिर लक्षणा क्यों माने ? तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि योगरूढ पद से जब एकवार अन्वित अर्थ उल्लसित हो जायेगा तो पुन: स्वतन्त्र पद्मत्वादि रूढार्थ के लिए केवल रूढिवृत्ति के प्रसार हेतु पुन: शब्द के अनुसन्धान की कल्पना करनी पड़ेगी जो गौरवदोष से दुष्ट होगा।

लक्षणा मान लेने पर पुन: शब्दानुसंधानरूपगौरव नहीं होगा। योगरूढि अभिधा से पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्टपद्मत्वरूपार्थ की उपस्थिति के बाद, केवल पङ्कजनिकर्तृत्वविशेषण, या केवल पद्मत्वरूप विशेष्य में से किसी एक की उपस्थिति हेतु भागत्यागरूप लक्षणा द्वार (साधन) बनेगी। जब उपाय (लक्षणारूप) प्राप्त है तब उपेय, भागत्यागरूप से केवल विशेषण या विशेष्य के ग्रहण की उपेक्षा नहीं कर सकतें। जैसे लक्षणा में शक्योपस्थिति द्वार होती है वैसे अभिधेय से ही शक्यान्तरोपस्थिति द्वारा नहीं होती है। यदि शक्यान्तरोपस्थिति में भी शक्योपस्थिति द्वार होती तो रूढि या योग से स्वतन्त्रतया क्रमश: पद्मत्व या योगत्व मात्र की उपस्थिति में, पुन: शब्दानुसाधान की कल्पना नहीं करनी पड़ती। ऐसा नैयायिक कहते हैं।

सा चानेकशक्तिकस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियम्यते।

तथाहु:-

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधि:।।
सामर्थ्यमौचिती देश: कालो व्यक्ति: स्वरादय:।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे बिशेषस्मृतिहेतव:।।' इति।

अर्थ: = प्रयोजनम्। प्रकरणं च = वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता। लिङ्गं = प्रयुक्तनानार्थपदवाच्यान्तरव्यावृत्तो धर्म:। शब्दस्यान्यस्य संनिधि: = नानार्थपदैकवाच्यसंसर्ग्यर्थान्तरवाचिपदसमभिव्याहार:। सामर्थ्य=कारणत्वम्। औचिती=अर्हता। व्यक्ति: स्त्रीपुंनपुंसकम्। शेषं प्रसिद्धम्। तत्र- 'शङ्खचक्रधरो हरि:' इत्यत्र शङ्खचक्रसंयोगेन हरिशब्दस्य भगवत्यभिधा नियम्यते। 'अशङ्खचक्रो हरि:' इत्यत्र तद्विप्रयोगेन 'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र रामपदस्य लक्ष्मण-साहचर्याद्रघुपुंगवे। 'छायातपौ' इत्यत्र च्छायाशब्दस्यातपेन सह सहानवस्थानविरोधादनातपे। 'रामरावणयोरिव' इत्यत्र रावणेन सह वध्यघातकभावविरोधाद्रामपदस्य रामचन्द्रे। यत्तु- 'रामार्जुनपदयोर्वध्यघातकभावविरोधाद्भार्गवकार्तवीर्ययोरभिधा नियम्यते - इत्युदाहरणम्, तन्न। 'राम'पदस्य भार्गवेऽ-भिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन 'अर्जुन'पदस्य कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिंश्च सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन 'राम'पदस्येति परस्पराश्रयापत्ते:। तस्मादन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव स्मृततद्विरोधप्रतिसंधानान्नानार्थपदस्या-भिधानियमनमिति प्रागुक्तमेवोदाहरणमनुसर्तव्यम्। इदं तु शब्दान्तरसंनिधेरुदाहरणं भविष्यति। 'हरिं मोक्षाय भजत' इत्यत्र मोक्षरूपेणार्थेन 'हरि'शब्दस्य भगवत्यभिधा नियम्यते। 'विवेश रामो दुर्धर्ष तापसाश्रममण्डलम्' इत्यत्र 'राम'पदस्य प्रकरणाद्रघुवीरे। 'कुपितो भूभृत्' इत्यत्र कोपलिङ्गेन पर्वतव्यावृत्तेन भूभृदित्यस्य राजनि। संयोगोदाहरणे प्रसिद्धिप्राचुर्यम्, शङ्खादेरिन्द्रादावर्थान्तरेऽपि संयोगाविरोधात्। लिङ्गोदाहरणे तु सर्वथार्थान्तरव्यावृत्तिरिति भेद:। 'निषधं पश्य भूभृतम्' इत्यत्र जनपदविशेषसाधारणस्य 'निषध'पदस्य पर्वतवाचि-'भूभृत्'पदसंनिधानात्पर्वतविशेषे नियम्यते। भूभृत्पदस्य च राजसाधारणस्य पर्वतविशेषवाचिनिषधपदसंनिधिना पर्वते। न

चान्योन्याश्रय:। न ह्यत्र समभिव्याहृतशब्देन तदर्थप्रतिपादनम-भिधानियमनायापेक्ष्यते, किं तु स्वार्थेन गृहीतसंसर्गेऽर्थे व्युत्पन्नो य: शब्द:, तत्समभिव्याहारमात्रम्। तथा च यथा संबन्धि-दर्शनात्संबन्ध्यन्तरस्मृतिस्थले गृहीतसंबन्धस्य संबन्धिनो दर्शनमात्रं संबन्ध्यन्तरस्मरणायापेक्ष्यते, न तु तद्दर्शनान्तरं तत्संबन्ध-स्मरणमपीति नान्योन्याश्रय:, तथेहापि 'निषधभूभृत्' पदयोर-भिधानियमनाय गृहीतस्वस्वार्थव्युत्पत्तिक'भूभृन्निषध'शब्द-समभिव्याहारमात्रमपेक्ष्यत इति तत्तदर्थप्रतिपादनस्यानपेक्षणा-न्नान्योन्याश्रय:। नन्वेवं 'शङ्खचक्रधरो हरि:' इत्यादावपि 'शङ्खचक्रा'दिशब्दान्तरसंनिधिनैवाभिधानियमनं भविष्यतीति व्यर्थ पृथक्संयोगाद्युदाहरणम्-इति चेत्,मैवम्। तत्र शङ्खचक्रादिशब्दानां नियतार्थतया श्रवणमात्रादर्थप्रतिपादकत्वेन तत्प्रतिपादितार्थ-संयोगादिभिरभिधानियमनसंभवात्। 'शब्दान्तरसंनिधिरपि तत्रास्ति' इति चेत्, अस्तु,-तथापि हरिशब्दाद्यभिधानियमनसमर्थे तदर्थसंयोगादि- रूपसंनिहित- संबन्धेनान्तरङ्गे शङ्खचक्रादावुपस्थिते तत्रापि वाचकतया व्यवहितसंबन्धेन बहिरङ्गशब्दान्तरसंनिधि-र्नोदाहरणत्वमर्हति। अतो यत्र 'निषधं पश्य भूभृतम्' इत्यादावुभयस्य नानार्थतया न कस्याप्यर्थस्य प्रथममुपस्थिति:, तत्रैव बहिरङ्गस्यापि तस्य नियामकत्वेनोदाहरणमिति न कश्चित्संकर:। यत्तु-नियतार्थशब्दसामानाधिकरण्यं शब्दान्तर-संनिधि:, तेन च 'देवस्य त्रिपुराराते:' इत्यत्र 'देव'शब्दस्य शंकरे नियमनम्, तत्र 'त्रिपुराराति'-शब्दस्य नियतार्थत्वात् इति, तदयुक्तम्। समभिव्याहृतशब्दस्य नियतार्थत्वे तत्प्रतिपादितलिङ्गादिनैव तन्नियमनात्। अन्यथा लिङ्गाद्युदाह-रणेऽपि शब्दान्तरसंनिधेरेव नियामकत्वापत्ते:। न च 'सामाना-धिकरण्ये शब्दान्तरसंनिधि:', वैयधिकरण्ये 'भूभृत: कोप:' इत्यादिरूपे 'लिङ्गादिकम्' इति भेदकथनम्। उभयत्र शब्दप्रतिपादितलिङ्गादेरेव नियामकत्वेनास्य भेदकथनस्य

परिभाषामात्रत्वात्। 'व्यालो दानेन राजते' इत्यत्र 'व्याल-दान'पदयोरूभयोरप्यनियतार्थत्वेऽपि वैयधिकरण्येऽपि परस्परसमभिव्याहारेण दुष्टगजमदजलयोरभिधानियमनस्य सर्वानुभवसिद्ध त्वेनावश्यसंग्राह्यत्वात्तदसंग्रहेण लक्षणकथन-स्यात्यन्तायुक्तत्वाच्च। तस्मादस्मदुक्तैव शब्दान्तरसंनिधेः प्रक्रियादरणीया। 'मधुना मत्तः कोकिलः' इत्यत्र कोकिल-मदकारणत्वरूपेण सामर्थ्येन वसन्ते 'मधु'शब्दस्याभिधा नियम्यते। 'भजत हरिं भवतापखिन्ना' इत्यत्र भवताप-हरणौचित्येन 'हरि'पदस्य लक्ष्मीरमणे। अर्थोदाहरणे चतुर्थ्या कार्यत्वनिर्देशः, सामर्थ्योदाहरणे तृतीयया करणत्वनिर्देशः, औचित्योदाहरणे तदुभयानिर्देशेऽपि योग्यतामात्रेण समभिव्याहार-लभ्यकार्यकारणभावावगमः, इति भेदः। 'क्षीरार्णवे हरिः शेते' इत्यत्र देशेन, 'प्रलये तिष्ठति हरिः' इत्यत्र कालेन च गरूड-ध्वजे 'हरि'पदस्य नियम्यते। 'मित्रो भाति' इत्यत्र पुंव्यक्त्या तपने, सुहृद्वाचिनो नपुंसकत्वात्। 'तिस्र एव सायाह्नस्योपसदः, द्वादशाहीनस्य' इति श्रुतौ 'अहीन'पदस्य मध्योदात्त-स्वरेणाहर्गणसाध्यसुत्याके द्वादशाहाख्यक्रतुविशेषे, 'अह्नः खः क्रतौ' इत्यनुशासनात्। हीनो न भवति' इति नञ्समासे सत्यहीनपदस्याद्युदात्तत्वात्। आदिशब्देनाभिनयोपदेशौ गृह्येते। अभिनयः = विवक्षितार्थाकृतिप्रदर्शको हस्तादिव्यापारः। उपदेशः= विवक्षितार्थस्य शृङ्गग्राहिकया निर्देशः।

'परारिसंदर्शितसंनिवेशौ परुत्पराभूतसरोजकोशौ।
इमावियन्तौ पुनरैषमस्ते कुचौ कियन्तौ परतो भवेताम्।।'

इत्यत्र तत्कालस्तनपरिमाणप्रदर्शकहस्तव्यापारेण 'इयत्' पदस्य परिमाणविशेषे,-

'इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्।।'

इत्यत्र 'इतः' इति स्वात्मनिर्देशेन तस्य वक्तरि

परमेष्ठिन्यभिधा नियम्यते।

अभिधेयमनेकार्थस्यशब्दस्यैकस्मिन्नर्थे संयोगविप्रयोगादिभिर्नियम्यते। नियामकाः संयोगादयस्तु-

संयोगो विप्रयोगश्चेति ....।

एषु केचन लक्ष्यन्ते शेषाः स्पष्टाः। तेषु अर्थः, प्रयोजनमिति। प्रकरणं, वक्तृबोद्धव्यबुद्धिस्थत्वम्। लिङ्गम्– नानार्थकपदवाच्यार्था-न्तरेभ्यो व्यावृत्तः एकार्थमात्रधर्मः। शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः, समभिव्याहृतेषुनानार्थकपदेषु वाच्यैकार्थमात्रसंसर्गित्वम् इतरार्थेषु परस्परासंसर्गित्वम् इति। सामर्थ्यं कारणत्वं। औचिती योग्यता। व्यक्तिः = लिङ्गानि स्त्रीपुंनपुंसकानि।

छायातपौ इत्यत्र नानार्थकछायापदस्य सहानवस्थानविरोधि-तावशादनातपोऽर्थः वाच्यः। एवमेव रामरावणयोरपि। नानार्थकरामपदस्य विरोधितावशद् रामपदस्य राघवो वाच्यः। न तु मम्मटोक्तविरोधि-तोदाहरणं रामार्जुनगतिस्तयोः' इति। रामार्जुनेत्यत्र नानार्थकयोरुभयो रामार्जुनयोर्मध्ये यद्येकस्याभिधानियमनेन निश्चितार्थबोधः स्यात्, तदानीं तद्विरोधप्रतिसन्धानेनेतरस्याभिधानियमनं भवेत् अतः अन्योन्याश्रय- दोषग्रस्तत्वान्नात्र विरोधिता संघटते। अतः उभयोर्मध्ये एकस्य नानार्थकत्वमेकस्य व्यवस्थितार्थत्वमावश्यकम्। रामार्जुनेत्यत्र शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणं भवितुं शक्नोति यतो हि नानार्थकरामपदस्य परशुरामरूपवाच्यार्थं विहाय तदितरराघवाद्यर्थेषु सत्सु, तथा नानार्थकार्जुनपदस्य सहस्रार्जुनरूपवाच्यार्थं विहाय कौन्तेयादिष्वर्थेषु सत्सु, नान्वयो घटते। परशुराम-सहस्रार्जुनरूपवाच्यार्थयोरेव विरो-धानुसंधानेन परस्पर संसर्गित्वात् शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणामुचितमिति भावः।

अर्थवशाद् 'हरि मोक्षायेति ''नानार्थकहरिपदस्य भगवति विष्णौ अभिधा नियम्यते। ''कुपितो भूभृत्'' इत्यत्र नानार्थकभूभृत्पदस्य राजनि चेतने न तु स्थावरे पर्वते, कोपस्य चेतनलिङ्गत्वात्। लिङ्गसंयोगयोस्तु सर्वथान्यतरव्यावृत्वधर्मः प्रसिद्धप्राचुर्यत्वधर्मश्च परस्परं भेदकोऽस्ति।

शब्दस्यान्यस्य सन्निधेरुदाहरणं तु 'निषधं पश्य भूभृतम्' इति। जनपद-पर्वतविशेषार्थकत्वात् नानार्थकं निषधपदम्। पर्वतराजार्थकत्वाद्

भूभृत्पदं नानार्थकमिति। उभयोरपि नानार्थकयो: यदा निषधपदस्य पर्वतविशेषस्तथा भूभृत्पदस्य पर्वतरूपोऽर्थो गृह्यते तथा च निषध: पर्वत: ''इति संसर्गो भवति। यदा राजरूपार्थो: गृह्येत तदानी'' निषधनामपर्वत: राजा च''त्यसंसर्गित्वमेवोभयो र्भवति। एवमेव निषधपदाद् जनपदस्यार्थग्रहेऽपि संसर्गाभाव: बोद्धव्य:। अत: शब्दस्यान्यस्य सन्निधिवशाद् निषधभूभृत्शब्दयोरुभयोर्निषधनामा पर्वतश्चार्थे नियम्यते।

नात्रान्योन्याश्रयो दोष: रामार्जुनवत्। यदाऽभिधानियमनाय समभिव्याहृतशब्देनैव तदर्थप्रतिपादनं भवति तदानीमन्योन्याश्रय:, अत्र तु स्वार्थेन सह गृहीतसंसर्गे अर्थे, व्युत्पन्नस्य शब्दस्य समभिव्याहारमात्रम् तत्र नान्योन्याश्रय:। चेत् सम्बन्धदर्शनानन्तरं सम्बन्धिन: स्मरणं सम्बन्धिनो दर्शनान्तरं तत्सम्बन्धस्मरणं स्यात्तदानीमन्योन्याश्रय: सम्भवेत्, चेत्सम्बन्धिदर्शनिन सम्बन्ध्य-न्तरस्मरणं स्यात् तदानीं कुतोऽन्योन्याश्रय:।

रामार्जुनेति स्थले परस्परसम्बन्ध्यर्थौ, परशुराम-सहस्रार्जुनौ स्त: तयोर्यदा एकस्य सम्बन्धिन: परशुरामस्य सहस्नार्जुनस्य वार्थस्य नियतप्रतिपादनं स्यात् तदानीमपरस्यार्थस्य विरोधित्वसम्बन्धेन वाच्यत्वं भवति। अत: सम्बन्धिदर्शनेन तत्सम्बन्धस्मरणदन्योन्याश्रय:। निषधं पश्य भूभृतमित्यत्र गृहीतसंसर्गस्वार्थव्युत्पन्नयोर्निषधभूमृत्पदयो: समभिव्याहारमात्रमपेक्ष्यते इति नान्योन्याश्रय:।

अस्तु नान्यन्योन्याश्रय:। किन्तु गृहीतसंसर्गस्वार्थव्युत्पन्नयो: समभिव्याहार इति शब्दान्तरसन्निधेर्लक्षणं मन्यते तदानीं 'सशङ्खचक्रो हरि:' इत्यत्रातिव्याप्ति: स्यात्। अत्रापि गृहीतसंसर्गस्वार्थव्युत्पन्नयो:, समभिव्याहार इति चेत् न। अत्रैकस्य नियतार्थत्वं तत्र तूभयोर्नानार्थकत्वमिति एकोभेद, द्वितीयस्तु संयोगस्य वाचकतयोपस्थितौ संयोगसम्बन्धस्यान्तरङ्गत्वात् शब्दान्तरसन्निधेस्तु आर्थसम्बन्धेन बहिरङ्गत्वात्, अत्र संयोगस्यैवोदाहरण भवितुं युक्तम्, 'असिद्धबहिरङ्गमन्तरङ्गे' इतिन्यायस्य प्राप्तत्वात्।

अतउच्यते, तथापि हरिशब्दाद्यभिधानियमनसमर्थे तदर्थसंयोगादि-रूपसन्निहितसम्बन्धेन वाचकतयाऽव्यवहितसम्बन्धेन च, अन्तरङ्गे शङ्खचक्रादौ उपस्थिते, बहिरङ्गतया शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणत्वं

नार्हति। अतो यत्र 'निषधं पश्य भूभृतम्' इत्यादावुभयस्य नानार्थकता न कस्याप्यर्थस्य प्रथममुपस्थितिस्तत्रैव बहिरङ्गस्यापि तस्य नियामकत्वेनोदाहरणमिति न कश्चित्संकर:'।

यत्तु शब्दस्यान्यस्य सन्निधेर्लक्षणं नियतार्थशब्दसामानाधि-करण्यमिति कृत्वा देवस्य त्रिपुराराते:' इत्युदाह्रिते तन्नोचितम्। त्रिपुराराति: शङ्करे नियतार्थक:, अत: देवस्य शिवस्येत्यर्थ: न तु कस्यचिदन्यस्य सुरस्य राज्ञो वेति अभिधाया नियमने, लिङ्गस्यैव हेतुत्वं मन्तव्यम्। यतो हि यथा कुपितत्वं चेतनकामस्यैकधर्मस्तथैव त्रिपुरारातित्वं केवलं शिवस्येति। वैयधिकरण्यसामानाधिकरण्ये लिङ्गशब्दान्तरसन्निधेर्भेदके इति न मन्तव्यम् एतत्परिभाषामात्रत्वात्।

तथा च 'व्यालो दानेन राजते 'अत्र केनाभिधानियमनं स्यात्। अत्र व्यालदानयोरुभयोरप्यनियतार्थत्वगस्ति। व्यालदानयोर्वैयधि-करण्येऽपि परस्पर समभिव्याहारेण दुष्टगजमदजलयोरभिधानियमनस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। अत: शब्दस्यान्यस्य सन्निधेर्लक्षणं 'नानार्थपदैकवाच्यसंसर्ग्यर्थान्तरवाचिपदसमभिव्याहार:' इति युक्तम्, न तु नियतार्थशब्दसामानाधिकरण्यम्' इति। अन्यथा अस्य संग्रहो दुर्घट: स्यात् इति भाव:।

'मधुना मत्त: कोकिल:' अत्र नानार्थकमधुशब्दस्य कोकिलमदसामर्थ्येन वसंतेऽभिधानियमनम्।

'भजत हरिं भवतापखिन्ना:' अत्र भवतापखेदहरणौचित्येन हरिपदस्य विष्णौ।

अर्थसामर्थ्यौचित्योरुदाहरणेषु क्रमश: चतुर्थ्या तृतीयया कार्यकारणभावावगमकयोग्यतया वा निर्देशेन भेदोऽवगन्तव्य:। 'क्षीरार्णवे हरि: शेते' अत्र देशवशात् हरिपदस्य विष्णावभिधा नियमनम्। 'प्रलये तिष्ठति हरि:' अत्र कालवशादिति। 'मित्रो भाति' इति पुल्लिङ्गत्वेमित्रशब्दस्य व्यक्त्या सूर्ये, नपुंसकत्वे तस्य सुहृदि।

स्वरेण तु 'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य' इत्यत्र श्रुतौ, 'अहीनपदस्य' 'अह्न: ख: क्रतौ' इति सूत्रेण खस्येनादेशे क्रतुविशेषे मध्योदात्तस्वरेणाभिधानियम्यते। आद्युदात्तस्वेरण' नहीन: अहीन इति नञ् समासे। आदि शब्देनाभिनयोपदेशादयो गृह्यन्ते।

अभिनयस्तु हस्तादिव्यापार: विवक्षितार्थाकारप्रदर्शक:। उपदेशस्तु सामान्यतयोपदेशात् विशेषविवक्षितार्थस्य निर्देश:। शृङ्गग्राहिकयेति शृङ्गेण शृङ्गिणां महिषगवादीनां ग्रहवत् सामान्येन विशेषस्य लाभ:।

तत्राभिनयस्योदाहरणं यथा परारिसदर्शित .... इति।

कुचौ परत: कियन्तौ भवेताम्। यौ परारि सर्वप्रथमतया, सन्निवेशमात्रं दर्शयत: तदनन्तरं परात् सरोजकोशं पराभवत:, पुन: ऐषम: इमौ इयन्तौ स्त:।

एतत्काले परिमाणविशेषप्रदर्शकस्य हस्तस्य व्यापारेण इयन्तौ पदस्य परिणामविशेषे अभिधानियम्यते। उपदेशस्योदाहरणम् यथा–

इत: स दैत्य: प्राप्त श्री: ....।

स दैत्यस्तारकासुर: इत: मत्त एव प्राप्तश्रीरस्ति अत: इत एव मत्त एव क्षयं नार्हति यतोहि विषवृक्षोऽपि सेकादिना सम्बर्ध्य पुन: छेत्तुं नार्हति इति।

अत्र इत: पदम्। स्वात्मनिर्देशेन ''इत:' इति 'इत: पदस्य' ब्रह्मणि वक्तरि अभिधानियम्यते।

नानार्थकशब्दो की, विशेष किसी एक अर्थ में, अभिधा का नियमन, संयोगादि से होता है। वे संयोग विप्रयोगादि १४ शब्दत: तथा आदि पद से अभिनय एवं उपदेश परिगणित किए गये हैं। जब नानार्थकशब्द के, संकेतित अनेक अर्थों में से, अभिधेय विशेष अर्थ की स्मृति अभीष्ट होती हो तब संयोगादि ही हेतु होते है।

अर्थ, प्रयोजन को कहते है। वक्ता एवं श्रोता के बुद्धिस्थत्व को प्रकरण कहते। नानार्थकपद का जो वाच्यान्तर, उसे अलग करने के लिए प्रयुक्त धर्म को लिङ्ग कहते है। नानार्थकपदों के अनेक अर्थो में से एक, एक वाच्यार्थ ही जहाँ परस्पर संसर्गी होता हो वाच्यान्तर का संसर्ग न घटता हो ऐसे पदो के समभिव्याहार को शब्दस्यान्यस्य सन्निधि कहते है। सामर्थ्य को कारण, औचिती को अर्हता तथा व्यक्ति को स्त्री पुंनपुंसकलिङ्ग कहते है शेष स्पष्ट है।

शंख चक्रधरो हरि: 'यहाँ शंखचक्र के संयोग से नानार्थक हरि पद की भगवान् में अभिधानियमित होती है। 'अशंखचक्रो' कहने पर भी वियोग से वहीं अभिधा नियमित होती है। 'रामलक्ष्मणौ' यहाँ नानार्थक राम पद की अभिधा, रघुनाथ में, लक्ष्मण साहचर्य से होती है। 'छायातपौ' में सहानवस्थान रूप विरोधिता से नानार्थक छाया पद की अनातप अर्थ में अभिधा नियमित होती है। 'रामरावणयो:' में वध्यघातकभाव विरोधिता से नानार्थकराम की, रघुनाथ में अभिधा नियमित होती है। इस प्रकार

विरोधिता के दो उदाहरण दिए गये।

'रामार्जुनगतिस्तयो:' में जो यह कहते है कि रामार्जुनपदो में वध्यघातकभाव रूप विरोध के कारण परशुरामसहस्रार्जुन की एक साथ ही अभिधा नियमित होती है वह उचित नहीं है, क्यों कि रामपद की जब तक परशुराम में अभिधा नियन्त्रित नहीं हो जाय, तब तक उनके विरोध का प्रतिसंधान कर विरोधी सहस्रार्जुन में अभिधा नियमित नहीं हो सकती। वैसे ही अर्जुन पद, की जब सहस्रार्जुन में अभिधा नियमित हो जाय, तदनन्तर इनके विरोध का प्रतिसन्धान कर राम पद की भी परशुराम में अभिधा नियन्त्रित हो सकेगी। अत: अन्योन्याश्रय दोष होगा। इसलिए विरोधिता के उदाहरण में दोनों पदो में से एक पद निश्चित अर्थ वाला होना ही चाहिए। फिर उससे विरोध का अनुसंधान कर दूसरे नानार्थक पद की अभिधा का नियमन करना होगा। इसलिए पहले उदाहृत 'छायातपौ 'रामरावणयो:' ही विरोधिता के उदाहरण ठीक है। रामार्जुन को शब्दान्तर सन्निधि का उदाहरण मान सकते है। क्योंकि इसमें अनेकार्थक पदो के कई अर्थों में से केवल एक-एक अर्थ के ग्रहण करने पर ही परस्पर संसर्ग होते है। अत: भार्गव तथा कार्तवीर्य रूप एक एक अर्थ लेने पर ही विरोध वश दोनो का संसर्ग हो सकता है। अर्थ का उदाहरण 'हरि मोक्षाय भजत' है मोक्ष रूप अर्थ की सिद्धि के लिए 'हरि' पद का अर्थ भगवान् ही गृहीत होता है। प्रकरण का उदाहरण 'विवेश रामो दुर्धर्ष तापसाश्रममण्डलम्' है। यहाँ प्रकरणवश नानार्थक राम पद का अर्थ रघुनाथ में नियन्त्रित होता है।

लिङ्ग का उदाहरण 'कुपितो भूभृत्' है। कोपरूप लिङ्ग से नानार्थक' भूभृत्' पद का अर्थ राजरूपार्थ में नियन्त्रित होता है। पर्वत अर्थ को बिल्कुल व्यावर्तित कर देता है क्योंकि जड पर्वत में कोप धर्म हो नहीं सकता। 'संयोग' में प्रसिद्धि की प्रचुरता होती है। वह भिन्न अर्थ में भी कदाचित् रह सकता है यही दोनों में भेद है।

शब्दस्यान्यस्य सन्निधि: का उदाहरण है 'निषधं पश्य भूभृतम्। यहाँ निषध के अर्थ हैं जनपद तथा पर्वतसंज्ञा, एवं भूभृत् के अर्थ हैं राजा एवं पर्वत। यहाँ परस्परसंसर्ग तभी होगा जब पर्वतसंज्ञक निषध को, तथा पर्वत अर्थ वाले भूभृत् को लें। अत: निषध पद के सन्निधान से भूभृत् का 'पर्वत' अर्थ, तथा पर्वत रूपार्थ से 'निषध' का निषधनामक' अर्थ अभिधा से नियन्त्रित होता है। यहाँ अन्योन्याश्रय नहीं हो सकता क्योंकि अन्योन्याश्रय तब होता, जब समभिव्याहृत पद से ही तदर्थ का प्रतिपादन होता, यहाँ तो स्वार्थ के साथ गृहीतसंसर्ग वाले अर्थ में व्युत्पन्न, जो शब्द है उसका समभिव्याहार मात्र है। सम्बन्धिदर्शन से जब सम्बन्ध्यन्तर का स्मरण होता हो तो अन्योन्याश्रय कैसे होगा, अन्योन्याश्रय तो तब

होता जब सम्बन्धिदर्शन के बाद उसके सम्बन्ध का ही स्मरण होता है। निषध भूभृत् दोनोंपदों में गृहीत संसर्गवाले स्वार्थ प्रतिपादक दोनों का समभिव्याहार मात्र अभिधा नियमन में कारण है। उन उन अर्थो के प्रतिपादन की यहाँ अपेक्षा ही नहीं होती।

यदि यहाँ यह कहें कि शंखचक्रधरो हरि: 'इस संयोग के उदाहरण में भी शंखचक्रादि शब्दान्तरसन्निधि से ही, हरिपद की विष्णु अर्थ में अभिधा नियमित हो सकती है फिर संयोग के उदाहरण की अलग से क्या आवश्यकता। तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि शंख चक्रादि शब्द निश्चितार्थक है नानार्थक नहीं। उनके सुनते ही निश्चित अर्थ के बोध के बाद उस अर्थ के संयोगादि से नानार्थक भी अभिधा नियमित हो सकती है। अस्तु संयोग का उदाहरण यह भले हो किन्तु आप के शब्दान्तर-सन्निधि का उदाहरण भी तो हो ही जायेगा क्यों कि गृहीतसंसर्ग वाले अर्थ की सन्निधि तो है ही। इसके विषय में यह कहना है कि चक्राद्यर्थसन्निहित जो संयोगसम्बन्ध वह वाचकतया अव्यवहित भी है अत: अन्तरङ्ग है, शब्दान्तरसन्निधि में रहने वाले आर्थ सम्बन्ध की अपेक्षा। अत: 'असिद्धबहिरङ्गमन्तरङ्गे' से अन्तरङ्ग संयोगादि से ही 'हरि' पद की अभिधा का नियमन हो जायेगा अत: शब्दान्तर सन्निधि का उदाहरण यह नहीं ही होगा। निषधं पश्यं भूभृतम्' उदाहरण में दोनो पद नानार्थक होने से किसी भी अर्थ की पहले उपस्थिति नहीं होती अत: उन्हीं अर्थों में रहने वाला सम्बन्ध सर्वथा बहिरङ्ग तथा आर्थ है, अत: उसका उदाहरण यही हो सकता है। इस प्रकार संयोग तथा शब्दान्तरसन्निधि ा में संकर नही है।

शब्दान्तर सन्निधि का स्वरूप जो निश्चित अर्थ वाले शब्द के साथ नानार्थक का सामानाधिकरण्य मानते है तथा, देवस्य त्रिपुरारातेः उदाहरण देकर निश्चितार्थक त्रिपुरराति के समभिव्याहृत नानार्थक 'देव' शब्द का शङ्कर अर्थ में नियमन करते है वह युक्त नहीं है क्योंकि इसका तो लिङ्ग से ही नियमन किया जा सकता है। क्योंकि नियतार्थ त्रिपुरराति शिव का असाधारण नाम ही है। अथवा ऐसा कह सकते है कि लिङ्ग आदि के उदाहरण में भी शब्दान्तर सन्निधि ही नियामक होगी। यदि यह कहते है कि नियतार्थक के साथ सामानाधिकरण्य स्थिति में शब्दान्तरसन्निधि तथा वैयधिकरण्यस्थिति में लिङ्ग नियामक होगें जैसे कुपित: भूभृत उदाहरण में 'भूभृत: कोप: यह विवरण करने पर 'कोप' भूभृत् का लिङ्ग होता है, शब्दान्तर सन्निधि में ऐसा विवरण नही कर सकते, अत: यही दोनो में भेद है, तो यह नहीं कहना चाहिए। यह भेदकथन युक्त नहीं है। यह केवल परिभाषा मात्र है वस्तुत: दोनों स्थानों पर शब्द से प्रतिपादित लिङ्गादि से ही नियमन हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि शब्दान्तरसन्निधि में भी एक पद नियतार्थक ही मानते है तो नानार्थक दोनों पदो के नियमन में कोई नियामक नहीं होगा। फिर ऐसी स्थिति में 'व्यालो दानेन राजते' इस उदाहरण में कौन नियामक होगा। क्यों कि 'व्याल ' एवं 'दान' दोनों अनियतार्थक है तथा दोनों का वैयधिकरण्येन समभिव्याहार भी है फिर 'व्याल' का अर्थ दुष्टगज तथा 'दान' का अर्थ मदराजि नियन्त्रित कैसे होगे और दोनों नियन्त्रित होकर संसर्गी होते है यह सर्वानुभवसिद्ध है। इस प्रकार ऐसे स्थल का विना संग्रह किये नियामको का लक्षण कथन अत्यन्त अनुचित होगा। इसलिए शब्दान्तर सन्निधि, मेरे लक्षण के अनुरूप करना चाहिए जिससे इन स्थलों का भी संग्रह हो जाय।

सामर्थ्य का उदाहरण है 'मधुना मत्त: कोकिल:'। कोकिल के मद कारणत्व के सामर्थ्य से नानार्थक 'मधु' पद की आभिधा वसन्त रूपार्थ में नियमित होती है।

औचित्य का उदाहरण 'भजत हरिभवतापखिन्ना:' है। सांसारिकतापखेदहरण रूप औचित्य से नानार्थक 'हरि' पद की अभिधा लक्ष्मीपति में नियमित होती है।

इस प्रकार, अर्थ सामर्थ्य तथा औचित्य में परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिए। अर्थ के उदाहरण में प्रयोजन का निर्देश चतुर्थी विभक्ति से किया जाता है सामर्थ्य के उदाहरण में कारणत्व का निर्देश तृतीया विभक्ति से किया जाता है, तथा औचित्य के उदाहरण में दोनों विभक्तियों के निर्देश के विना, योग्यता (औचित्य) मात्र से, समभिव्याहार से लभ्य कार्यकारणभाव का अवगम होता है। देश का उदाहरण 'क्षीरार्णवे हरि: शेते' है। तथा काल का उदाहरण 'प्रलये तिष्ठति हरि:' है। दोनो स्थानो पर नानार्थक 'हरि' पद की अभिधा का नियपमन क्रमश: क्षीर सागर स्थान, तथा प्रलयकाल से होता है। व्यक्ति का उदाहरण 'मित्रो भाति' है। यहाँ पुल्लिङ्ग मित्र का अर्थ सूर्य ही होता है सुहृद् नहीं। क्योंकि सुहृत् शब्द मे नपुंसकलिङ्ग मित्र शब्द है। स्वर का उदाहरण 'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य' यह श्रुति है। यदि यहाँ 'अहीन' पद में मध्य उदात्तस्वर हो तो उससे क्रतुविशेष रूप अर्थ में अभिधा नियमित होगी। क्योंकि 'अह्नः खः क्रतौ' इस सूत्रानुशासन से खप्रत्यय के स्थान पर ईनादेश होकर, सिद्ध, 'अहीन' शब्द का स्वर मध्योदात्त होगा। जब यही 'न हीन:' 'अहीन:' ऐसी व्युत्पत्ति कर ले तो नञ्तत्पुरुष अहीनपद का स्वर, आदि उदात्त होगा। इस प्रकार स्वरविशेष से प्रत्ययार्थक क्रतुविशेष, तथा समासार्थक अहीनार्थविशेष का अर्थ नियमित होता है। अत: स्वर भी नियामक है।

आदि पद से अभिनय एव उपदेश को ग्रहण करते हैं। विवक्षित अर्थ

के आकार आदि का प्रदर्शक हस्तादिव्यापार अभिनय है तथा विवक्षित अर्थ का सामन्यतया निर्देश, उपदेश कहा जाता है। उप का अर्थ समीप। स्वार्थसमीपस्थ सामान्यादि से विशेषादि का बोध उपदेश है। जैसे शृङ्गियो का सामान्य, शृङ्गपद से ग्रहण कराया जाय।

उनमें अभिनय का उदाहरण जैसे – परारि संदर्शित ....।

सर्वप्रथम जो दोनो कुच, सन्निवेश मात्र को दिखलाते थे वही बाद में सरोज मुकुल की शोभा को पराभूत किए। वहीं इस समय इतने इतने हो गये है। बाद में वे दोनो कुच कितने बड़े होगे।

यहाँ इयन्तौ' से बोध्य जो हस्त व्यापार है वह एतत्कालस्तनपरिमाण विशेष का प्रदर्शक है अति इयत् पद की अभिधा, अभिनय से परिमाणविशेष में नियमित होती है।

उपदेश का उदाहरण जैसे – इत: स दैत्य: ....।

वह तारकासुर दैत्य यहीं से श्रीप्राप्त कर बढ़ा है अत: यही से उसका क्षय होना उचित नहीं है। क्योंकि विषवृक्ष भी यदि संवर्धित कर दिया गया हो तो उसका स्वयं से छेदन अनुचित होता है।

यहाँ ''इत:'' स्वात्मनिर्देश से इत: शब्द के वक्ता ब्रह्मा मे उपदेश से अभिधा नियमित होती है।

यत्र त्वनेकशक्तस्य शब्दस्याभिधानियामकमनेकत्राविशिष्टमर्थे, तत्र नान्यतरस्मिन्नभिधा नियम्यते। यथा–

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय: पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयोगङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहु: शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामरा:,
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधव:।।'

अत्र शिव-केशवयोरपि स्तुत्यतया प्रकरणमविशिष्टम्। अत:– 'ध्वस्तमनोभवेन=नाशितमन्मथेन, बलिजित्काय: = विष्णोर्विग्रह:, पुरेष्वस्त्रतां नीत:, यश्चोद्वृत्तशेषवासुकिप्रभृतिनागराजसंपादितहारवलयकृत्य:, यश्च गङ्गामधारयत्, यस्य शिर: शशिमदाहुरमरा: स्तुत्यं नाम च हर इत्याहु:, अन्धकासुरक्षयकर:, स उमाधवस्त्वां सर्वदा पायात्' इति। 'अभवेन नि:ससारेण येन, अन: शकटं ध्वस्तम्, येन च बलिजित्स्वस्य काय: पुरामृतमथने स्त्रीत्वं नीत:, यश्चोद्वृत्तं भुजङ्गं कालियं हतवान्, रवे शब्दब्रह्मणि लयस्ताद्रूप्यापत्तिरस्येति रवलय:,

उद्वृत्तभुजङ्गान् हतवदारवलयं चक्रमस्येत्येकं पदं वा, अगं गोवर्धनं गां बराहावतारेण भूमिं च योऽधारयत् यस्य स्तुत्यं नाम शशिमच्छिरोहर इत्याहु: शशिनं मथ्नाति यो राहुस्तच्छिरोहर इति, अन्धकानां राज्ञां क्षयकरो निवासकृत्, सर्वदो माधवस्त्वां पायात्' इति चार्थद्वयेऽप्यभिधैव व्यापार:। अत एवात्र श्लेषोऽलंकार:।

यत्र नानार्थकस्य अनेकत्रार्थे अविशिष्टं संयोगाद्यभिधानियामकं, न कमप्यर्थं विशिनष्टि तदानीमेकस्मिन्नर्थे अभिधा न नियम्यते यथा येन ध्वस्तमनोभवेन .... इति।

अत्राभिधानियामकं प्रकरणमविशिष्टम्। अत्र शिवकेशवयोर्द्वयोरपि स्तुति: प्रकृता । तत्र शिव पक्षे–

अन्धकासुरक्षयकर: उमाधव: सर्वदा त्वां पायात् रक्षेत्। कीदृश: स, ध्वस्तमनोभवेन भस्मीकृतकामेन येन शिवेन पुरा त्रिपुरविनाशे, वलिजित्काय: – बलिजितो विष्णो: शरीरं अस्त्रीकृत: आयुधीकृत: तथा च उद्वृत्तभुजङ्ग: विकटसर्पा:, हारो वलयश्च यस्य स:, हारवलयीकृतविकटभुजङ्ग:, गङ्गां च यो शिरसा अधारयत्, यश्च, शशिमत् शिरो यस्य स, चन्द्रमौलिरित्यस्ति। यस्य नाम अमरा 'हर' इत्याहु:', इति।

केशवपक्षे अन्धकानां वृष्णीनां (क्षय: गृहं निवासोवा) क्षयकर: निवासकृत् माधवस्त्वां सर्वदा पायात्। कीदृश: स इति –

येन ध्वस्तमनोऽभवेन, अभवेन अजेन अन: शकटं, (शकटासुर:) ध्वस्तम् विनाशितम्। तथा येन स्वस्य बलिजित् काय:, पुराऽमृतमथने स्त्रीकृत:। यश्च उद्वृत्तान् महोद्धतान् भुजङ्गान् हतवान् इति उद्वृत्तभुजङ्गहा, तथा च रवे शब्दब्रह्मणि लयो यस्य स रवलय अस्ति। अथवा भुजङ्गहारवलय: इत्येकपदत्वे आरवलयं चक्रमित्यर्थ: भुजङ्गान् हतवदिति भुजङ्गहत् आरवलयं यस्य स: इत्यप्यर्थ:। अगं = पर्वतं गां-पृथ्वीं च योऽधारयत्। क्रमेण कृष्णसूकरावतारयो:।

यस्य अमरा:, 'शशिमच्छिरोहर' इति नाम आहु:। शशिनं मथ्नातीति इति शशिमत्, राहु:, तस्य शिरोहर इति।

अत्रार्थद्वयेऽपि प्रकरणाद्यभावादभिधैव। अत एव श्लेषालङ्कार:।

जहाँ अनेकार्थक शब्द, अनेक अर्थों में प्रकरणादि से विशिष्ट न हो

वहाँ किसी एक अर्थ में अभिधा का नियमन नहीं होता है। जैसे येन ध्वस्तमनोऽभवेन ....।

वह उमाधव शङ्कर सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें, कामध्वंसक जिसशिव के द्वारा त्रिपुरदाह के समय विष्णुशरीर अस्त्र बनाया गया था जिनके हार एवं कङ्कण भयंकर सर्प हैं जिन्होंने गङ्गा को धारण किया है जो चन्द्रकलायुक्त शिर वाले है देवताओं ने जिसका स्तुत्य नाम ''हर'' ऐसा कहा है तथा जो अन्धकासुर के विनाशक है।

विष्णु पक्ष में वह माधव आपकी रक्षा करें, अभव, अजन्मा, जिन्होंने शकटासुर का वध किया है जिन्होंने राजाबलि को जीतने वाले अपने शरीर को, अमृतमन्थन के समय स्त्रीरूप में बनाया है जो उद्वृत्तभुजङ्गो के विनाशक है, शब्द ब्रह्म (रव) में जिनका लय है जो गोवर्धनपर्वत तथा पृथ्वी को (कृष्ण एवं सूकरावतार में) धारण किए है, देवतागण जिनका स्तुत्य नाम राहुशिरोहर कहते हैं जो वृष्णियों (अन्धक) के घर निवास, किए है। तथा सब कुछ देने वाले है।

यहाँ पर शिव तथा केशव दोनो स्तुत्य है अत: प्रकरण विशिष्ट नहीं है यहाँ दोनों अर्थ में अभिधा व्यापार ही है। इसलिए इसे श्लेषालंकार कहते है।

ननु च यत्रानेकत्र प्रकरणाद्यविशिष्टम्। तत्र भवत्वनेकत्राप्यभिधाव्यापार:। यत्र प्रकरणस्य कचिदर्थेऽवस्थितत्वेऽप्यप्राकरणिकं शक्यान्तरं प्रतीयते, तत्र का गति: ? यथा–

'असावुदयमारूढ: कान्तिमान् रक्तमण्डल:।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभि: करै:।।

इति चन्द्रोदयवर्णनप्रस्तावे। अत्र ह्यप्राकरणिको भूपतिरभ्युदयादिविशिष्ट: प्रतीयते।

अत्र प्राञ्च: –'तत्र शब्दशक्तिमूलो व्यञ्जनाव्यापार एव शरणम्, गत्यन्तराभावात्। न हि तस्य तत्राभिधा संभवति, तस्या: प्रकरणेन नियन्त्रितत्वात्। नापि लक्षणा, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। न चाभिधाया इव व्यञ्जनस्यापि प्रकरणेन नियन्त्रणे तेनापि न तन्निर्वाह इति वाच्यम्, तस्य धर्मिग्राहकमानेन तदनियम्यतयैव सिद्धे:। अत एव काव्यान्तर्निविष्टस्य प्राकरणिककिंचिदर्थनियताभिधाव्यापारस्याप्यसभ्य-पदार्थान्तरप्रत्ययहेतो: पदस्य हेयत्वम्। अन्यथा तत्राभिधाया इव

व्यञ्जनव्यापारस्यापि प्रकरणेन नियन्त्रणेऽसभ्यार्थान्तरप्रत्ययासंभवात् 'यस्याननं योनिरुदारवाचाम्' इत्यादावश्लीलदोषो न स्यात्। तस्मात्संयोगादिभिरभिधाशृङ्खलिता यत्र कुण्ठतामेति, अर्थान्तरावगमने व्यञ्जनमेव क्षमं तत्र –' इति।

ननु प्रकरणाद्यभावे भवतु उभयत्राभिधा किन्तु यत्र क्वचिद् व्यवस्थिते अर्थे प्रकरणस्य सत्वेऽपि, अप्राकरणिकं शक्यान्तरं प्रतीयते तत्र का गति:। अत्र प्रथमं प्राचीनानां मतेन तस्य व्यङ्ग्यत्वं प्रतिपाद्य स्वकीयमतेन तस्याप्यभिधेयत्वमेव प्रतिपिपादयिषन्नाह – यथा- असावुदयमारूढ: .... इति।

अत्र उदयमभ्युदयञ्च, कान्तिमानिति = तेजस्वी रश्मिमान् च। रक्तइति, अनुरक्त: शोणश्च। राजेति = चन्द्र: नृपतिश्च। करइति, किरण: राजदेयधनञ्च।

अत्र चन्द्रसम्बन्धिवाक्यार्थ: प्रस्तुत:, राजसम्बन्धी चाप्रस्तुत:। अत्र प्राञ्चोवदन्ति – अप्राकरणिके राजसम्बन्ध्यर्थे शब्शक्तिमूला व्यञ्जनैव शरणम्। तदतिरिक्ताभिधालक्षणागत्यभावात्। प्रकरणेन चन्द्रसम्बन्ध्यर्थे नियमितत्वादभिधाया: सम्भावनैव नास्ति। मुख्यार्थबाधाद्यभावात् लक्षणाया अपि।

ननु प्रस्तुतार्थनियन्त्रकस्य प्रकरणस्य सत्वात् कथमप्रस्तुतार्थस्य व्यञ्जनाव्यापारेणापि उपस्थितिरिति न वक्तुं शक्यते यतोहि व्यञ्जनाया न क्वापि नियमनमिति धर्मिग्राहप्रमाणमस्ति। अत एव अभिधाव्यापारेण प्राकरणिकसदर्थनियतस्यापि काव्यान्तर्निविष्टस्य पदस्यासभ्य- पदार्थान्तरप्रत्यायकत्वेन हेयत्वं दर्शितम्। चेत् प्रकरणादिना व्यञ्जनाव्यापारस्यापि नियन्त्रणं स्यात्तदानीं कथमसभ्यार्थप्रत्यय: स्यात्। यथा 'यस्याननं योनिरुदारवाचाम्' अत्र योनिपदेनाश्लीलत्वस्य प्रत्यय:। अत: संयोगादिभिर्नियन्त्रितायामभिधायामर्थान्तरावगमने क्षमं व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यम्।

अव प्रश्न करते है कि जहाँ नानार्थ के अनेक अर्थो में, प्रकरणादि विशेष न हों वहाँ सभी अर्थो में भले ही अभिधा व्यापार हो जायँ, किन्तु जहाँ प्रकरण किसी अर्थ विशेष में अवस्थित हो, वहाँ यदि अप्राकरणिक शक्यान्तर की प्रतीति होती हो तो वहाँ कैसी स्थिति होगी ? जैसे- असावुदयमारूढ: ....।

यहाँ प्रकरण में चन्द्रोदय का वर्णन है। यह उदय को प्राप्त रश्मिमान्

शोणमण्डल वाला चन्द्र मृदु किरणों से लोगों के हृदय को अधीन कर रहा है।

दूसरा अप्राकरणिक अर्थ राजसम्बन्धी है। अभ्युदय को प्राप्त तेजस्वी, सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने में अनुरक्त रखने वाला, नृप, अनुद्वेगकर राजदेय (टैक्स) धन से राष्ट्र के हृदय को वश में कर रहा है।

यहाँ चन्द्र प्राकरणिक तथा भूपति अप्राकरणिक है। यहाँ प्राचीनो का कहना है कि अप्रकृत अर्थ में शब्दशक्तिमूलव्यञ्जना व्यापार ही एकमात्र समर्थ है क्यों कि उसके अतिरिक्त दूसरी कोई गति नहीं है। अप्रकृत अर्थ में अभिधा सम्भव नहीं है क्योंकि वह प्रकरण से नियन्त्रित हो जाती है। लक्षणा भी नहीं हो सकती, क्योंकि मुख्यार्थबाधादि नहीं है। यह नहीं कह सकते कि अभिधा की तरह व्यञ्जना भी प्रकरणादि से नियन्त्रित हो जाने पर उससे भी अप्रकृत अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा, क्यों कि धर्मिग्राहक प्रमाण से वह कभी किसी से नियन्त्रित हो ही नहीं सकती। इसलिए काव्य में निविष्ट प्राकरणिक किसी नियतार्थ का अभिधाव्यापार से प्रतिपादक भी पद, यदि असभ्य पदार्थन्तर के प्रत्यय का कारण बनता हो, तो उसे काव्य में हेय माना गया है। नही तो अभिधा के समान व्यञ्जना का भी प्रकरण से नियन्त्रण हो जाने पर अर्थान्तर का प्रत्यय नहीं हो सकेगा, जब कि 'यस्याननं योनिरुदारवाचाम्' में अश्लील दोष का प्रत्यय होता है। इस लिए संयोगादि से जब अभिधा प्रतिबन्धित हो जाती है तब अर्थान्तर के बोध के लिए व्यञ्जना ही समर्थ होती है।

वयं तु ब्रूमः - 'असावुदयमारूढः -' इत्यादौ प्राकरणिकेऽर्थे प्राकरणिकवदप्राकरणिकेऽपि 'राजकरमण्डला'दिशब्दानां परस्परान्वययोग्यनृपतितद्ग्राह्यधनदेशादिवाचकानां समभिव्याहाररूपमभिधानियामकमस्तीत्यर्थद्वयस्यापि प्राकरणिकत्व इव प्राकरणिकाप्राकरणिकरूपत्वेऽप्युभयत्राभिधैव व्यापारः, यथोक्तसमभिव्याहारस्यापि शब्दान्तरसंनिधिरूपत्वेन प्रकरणवदभिधानियामकत्वात्। यैस्तु शब्दान्तरसंनिधिरन्यथा निरुच्यते, तैरपि यथोक्तसमभिव्याहारेण नानार्थशब्देभ्योऽर्थप्रत्ययस्य सर्वसिद्धत्वेन तस्य तद्भेदेनापि नियामकत्वमास्थेयमेव। वस्तुतोऽयमेव शब्दान्तरसंनिधिरित्यप्युक्तम्। न चाप्राकरणिके उक्तरूपशब्दान्तरसंनिधिमात्रम्, प्राकरणिके तञ्च प्रकरणं चेति नियामकाधिक्यात्तत्रैवाभिधा स्यादिति

वाच्यम्, प्रकरणादीनामभिधानियामकत्वं हि नानार्थशब्दजन्यशक्यस्मृतौ तेषामन्यतमकारणत्वम्। यथोक्तम्- 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति। तथा च तेषु कस्यचिदपि समवधाने स्मृतिसामग्री पुष्कलैवेति किं तद्बाहुल्येन?

यत्रैकमेव पदं नानार्थमप्राकरणिकेऽपि तात्पर्यवत्। यथा-

'करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्-
जनो मृगाणामिव यत्तव स्तुतिम्।
हरे हिरण्याक्षपुरः सुरासुर
द्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया।।'

इत्यत्र 'हरि'पदम्। तत्रापि समभिव्याहृत 'द्विप' पदप्रतीतगजविरोधादिकमप्राकरणिके सिंहेऽप्यभिधानियामकमस्त्येव। यत्र तु 'यस्याननं योनिरुदारवाचाम्-' इत्यादावश्लीले नैतादृशं नियामकम्, तत्रापि बुभुत्सितार्थव्यासक्तस्य मनसस्तमुल्लङ्घ्ययासभ्ये दुर्गन्धादौ प्रवृत्तिवत्प्रकरणनियन्त्रितस्यापि शब्दस्य तदुल्लङ्घ्यविषयस्वाभाव्यादश्लीले प्रवृत्तिरिति न कापि शक्तिविषये व्यक्तिरङ्गीकरणीया। यदि चैवंविधानि नियामकानि नाद्रियेरन्, तदोदाहृतस्थलेषु व्यञ्जनव्यापारोऽपि दुर्ग्रहः। तथा हि—प्रकरणादिकमुल्लङ्घ्य व्यञ्जनव्यापारेणाप्यर्थान्तरप्रत्ययो न सर्वत्र वक्तुं शक्यते, प्रकरणादीनामभिधानियामकत्वकल्पनस्यैव व्यर्थत्वापत्तेः। तद्धि नादृष्टार्थम्, किंतु 'सैन्धवमानय' इत्यादावेकार्थमात्रपरनानार्थशब्दस्थले अर्थविशेषस्मृतिव्यवस्थार्थ तत्। यदि तत्रापि व्यञ्जनव्यापारेणार्थान्तरप्रत्ययः स्यात्, तदा कथमेषा सिध्येत्। न ह्यभिमतानभिमतक्षेत्रसाधारणस्य जलाशयस्याभिमतक्षेत्रगामिनीमेकां कुल्यां विधानभिमतक्षेत्रगामिनः कुल्यान्तरस्यापि कल्पने जलस्याभिमतक्षेत्रैकगामित्वव्यवस्था कृता भवति। तथा च यत्र कवयितुश्चमत्कारायाप्राकरणिकेऽप्यर्थे तात्पर्यम्, यत्र वाश्लीलदोषः, तत्रैव व्यञ्जनाव्यापारोन्मेषः, न सर्वत्रेति

तद्व्यवस्थासिद्धये तत्र तत्र नियामकान्यस्मदुक्तानि अन्यादृशानि वावश्यमादर्तव्यानि तेषां चाभिधानियामकत्वमेव वक्तुं शक्यमिति। व्यर्थस्तत्र व्यक्तिकल्पनापरिश्रमः, दुर्वारश्च तत्र व्यक्तिवादिमतेऽप्यभिधाव्यापारः।

दीक्षितो वदति = एतदहं नानुमन्वे अतः ब्रवीमि। शब्दान्तर-सन्निधेः स्वरूपं यन्मया प्रतिपादितम् तदनुसारेणात्रोभयत्राप्यर्थेऽ-भिधैवार्हा। असावुदयमारुढः ...... इत्यादौ प्राकणिकेऽर्थे प्रकरणवदप्राकरणिकेऽपि राजादिशब्दानां नृपतितद्ग्राह्यधनादिवाचिनां समभिव्याहाररूपस्य शब्दान्तरसन्निधेर्वशात् परस्परान्वययोग्ययो-रुभयोरर्थयोरभिधानियामकत्वादभिधैव मन्तुं योग्या।

ननु भवल्लक्षणानुरूपशब्दान्तरसन्निधिरेव नास्ति, एकस्य पदस्य व्यवस्थितार्थत्वं तत्रान्यैर्निरूच्यत इति चेत्, तदानीं ते प्रष्टव्याः "व्यालो दानेन राजते" इत्यादौ समभिव्याहारेण नानार्थशब्देभ्योऽर्थ-प्रत्ययस्य सर्वसिद्धत्वाद् अत्र किं नियामकत्वमास्थीयते भवद्भिः।

अस्तु अत्र शब्दान्तरसन्निधिना अप्राकरणिकेऽप्यर्थेऽभिधानियमनम् किन्तु प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरण- शब्दान्तरसन्निध्योरुभयोः सत्वा न्नियामकाधिक्यात्तत्रैवाभिधानियमनं मन्तव्यं न केवलशब्दान्तर-सन्निधेरित्यपि न वक्तुं युक्तम्, यतो हि संयोगादिषुप्रत्येकम-भिधानियमनाय कारणमित्येव कारिकया दर्शितम्। यथोक्तम-'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः "इति। अतः कस्यचिदेव समवधाने स्मृतिसामग्री पुष्कलैवेति किन्तत्र द्वित्रिचतुर्भिरिति।

इत्थं नानार्थकानेकपदानामप्राकरणिकेऽर्थेऽपि अभिधा निरूपिता। यत्रैकमेव पदं नानार्थं तस्याप्राकरणिकेऽपि अर्थे तात्पर्यं दृश्यते। यथा= करोति कंसादिमहीभृतां ....।

हे हरे मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधात् कश्चन जनो यत्तव स्तुतिं करोति सा तव स्तुतिर्न, प्रत्युत हिरण्याक्षाद्यसुरगजानां हन्तुस्ते तिरस्क्रिया।

अत्र नानार्थक'हरि' पदस्याप्राकरणिके सिंहे तात्पर्यम्, असुरेषु द्विपारोपात्। समभिव्याहृतद्विपपदप्रतीतस्य गजविरोधिताया नियामकत्व मप्राकरणिके सिंहेऽपि लभ्यते न केवलं प्राकरणिके।

यत्र तु समभिव्याहृतपदप्रतीतविरोधादिनियामकं नोपलभ्यते तत्रापि

व्यञ्जनाया स्वीकारो नाङ्गीकरणीयः। यथा 'यस्याननं योनिरुदारवाचाम्' इति। अत्र नानार्थप्रत्यायकत्वयोनिपदस्य संयोगादिना नियामकत्वा-भावेऽपि अभिधयैवाप्राकरणिकार्थबोधः करणीयः। यतोहि विशेषार्थं बोद्धुमिच्छु मनः यथा योनिपदस्यकारणार्थमुल्लङ्घ्य दुर्गन्धादौ प्रवर्तते तथैव प्रकरणनियन्त्रितस्यापि शब्दस्य प्रकरणमुल्लङ्घ्य विषयस्वा-भाव्यादश्लीले प्रवृतिरित्यत्रापि न व्यक्तेर्विषयता अतः शक्ति विषये न क्वापि व्यक्तिरङ्गीकरणीया।

नियामकादराभावे, नियामकं विना अप्राकरणिके व्यञ्जनव्यापारो दुर्ग्रहोभविष्यति। पुनश्च पृच्छामि-प्रकरणादिकमुल्लङ्घ्य, व्यञ्जन-व्यापारेण योऽर्थान्तरप्रत्ययः, स सर्वत्र भवति क्वचिद्वा। सर्वत्र इति न वक्तुं शक्यते, सर्वत्रार्थान्तरप्रत्यये प्रकरणादीनामभिधा-नियामकत्वकल्पनमेव व्यर्थम्। ननु न व्यर्थं तस्यास्ति दृष्टं प्रयोजनम्, यदा सैन्धवमानय' इत्युच्यते, तदानीं नानार्थकसैन्धवशब्दस्यैकार्थ-मात्रपरत्वेनैवार्थविशेषे स्मृतिव्यवस्था जायते, अतः प्रवृत्तिनिमित्तार्थ-विशेषव्यवस्थार्थमभिधानियामकमावश्यकमिति तदपिन। यदि अत्रापि व्यञ्जनव्यापारेणार्थान्तरप्रत्ययो भवेत् तर्हि कथमेषाऽपि व्यवस्था सिद्धयेत। नहि अभीष्टानभीष्टक्षेत्रसाधारणस्य जलाशयस्यैव नानार्थकशब्दस्य प्रकृतार्थरुपाभिमतक्षेत्रगामिनीमेकाकुल्यामिवाभिधां प्रकल्प्याप्रकृतार्थरूपानभिमतक्षेत्रगामिनो व्यञ्जनरूपकुल्यान्तरस्य प्रकल्पनेऽपि नानार्थजलस्य प्रकृताभिमताक्षेत्रमात्रगामित्वव्यवस्था भवितुमर्हा। इत्थं सर्वत्र व्यञ्जनव्यापारेणा- र्थान्तरप्रत्ययः दूषितः।

न सर्वत्रापि तु कुत्रचिदिति पक्षे = यत्र कवयितुश्चमत्काराया-प्राकरणिकेंऽप्यर्थे तात्पर्यं यत्र वाश्लीलदोषस्तत्रैव व्यञ्जनव्यापारोन्मेषः न सर्वत्रेति तद्व्यवस्थासिद्धये तत्र तत्र नियामकान्युक्तानि वाऽनुक्तान्यन्यादृशानि वाऽवश्यमेवादर्तव्यानि इत्यपि न वक्तुं शक्यते यतोहि अनुपदमेव "करोति कंसादि ....। तथा च - यस्याननम् इत्युभयत्र व्यक्तिकल्पनापरिश्रमस्य व्यर्थत्वं दर्शितम्। एषु स्थलेषु व्यञ्जनवादिनां मतेऽपि अभिधाव्यापारो दुर्वारोऽस्ति।

अप्पय्य दीक्षित कहते हैं कि - मेरा मत इसके विरूद्ध है। जैसा कि 'असावुदयमारूढ' स्थल में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों स्थलों में शब्दान्तरसन्निधिरूप समभिव्याहार, के कारण अभिधा ही है। राजमण्डल आदि शब्द का परस्पर अन्वययोग्य नृपति तथा उससे ग्राह्य धनादि के

वाचकों से अन्वय होता है, वैसे ही इस अप्रकृत अर्थ में भी समभिव्याहार रूप हेतु, अभिधा का नियामक है अतः दोनों प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत, प्रस्तुत ही हो जायेंगे तथा दोनो में अभिधा व्यापार रहेगा। समभिव्याहार शब्दान्तरसन्निधिरूप बतलाया जा चुका है, अतः यह भी प्रकरण की तरह अभिधा का नियामक है। जो लोग शब्दान्तर सन्निधि का लक्षण मेरे लक्षण से भिन्न करते है तथा एक व्यवस्थितार्थक पद लेते है उन्हें भी 'व्यालो दानेन राजते' इत्यादि नानार्थकपदों से सर्वसिद्ध, अर्थों के प्रत्यय के लिए अपने लक्षण से भिन्न लक्षण मानना ही होगा। वस्तुतः यही नानार्थक, दोनों पदो वाले, स्थल ही शब्दान्तर सन्निधि के स्थल है।

अब यदि यह कहें कि 'व्यालो दानेन' उदाहरण में अप्राकरणिक अर्थ में तो शब्दान्तर सन्निधि मात्र है किन्तु 'असावुदयमारूढ़' में प्रकरण तथा शब्दान्तर सन्निधि दोनों है अतः नियामक के आधिक्य से प्रकृत में ही अभिधा मान ली जाय, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि नानार्थक शब्द जन्य स्मृति में संयोग, प्रकरणादि में से, किसी एक को ही अभिध ा का नियामकत्व माना गया है जैसा कि कहा गया है शब्दार्थ के संदेह मे ये संयोगादि कारण है। यहाँ हेतवः' से अलग–अलग कारणता स्पष्ट है। इस प्रकार किसी एक के रहने पर ही अर्थस्मृति में पुष्कल नियामक सामग्री हो जाती है फिर कई की क्या आवश्यकता।

जहाँ एक ही नानार्थक पद, अप्राकरणिक अर्थ में भी तात्पर्यवान् है वहाँ अप्रकृत में भी अभिधानियामकत्व है ही। जैसा कि

करोति कंसादि मही ....।

हे हरे ! मृग के समान कंसादि राजाओं के वध के कारण जो लोग आप की स्तुति करते है, वह, हिरण्याक्षादि असुर रूपी हाथी के शत्रु हरि रूप आपकी स्तुति न होकर तिरस्क्रिया ही प्रतीत होती है।

यहाँ सिंह तथा विष्णु आदि का वाची नानार्थक 'हरि' पद है। समभिव्याहृत द्विप (हाथी) पद से प्रतीत गजविरोधादि, अप्राकरणिक सिंह में भी अभिधा को नियमित करता ही है।

जहाँ अश्लील स्थल में इस प्रकार के नियामक नहीं प्रतीत होते है जैसे 'यस्याननं योनिरुदारवाचाम्' आदि है वहाँ भी जैसे अर्थबोध का इच्छुक मन, अभिधेयार्थ पदार्थ को छोड़ कर असभ्य दुर्गन्धादि में प्रवृत्त होता है वैसे ही प्रकरण नियन्त्रित भी शब्द, प्रकरण का उल्लङ्घन कर विषय स्वभाव वश अश्लील अर्थ में भी प्रवृत्त हो ही जाता है अतः शक्ति के विषय में व्यञ्जना नहीं माननी चाहिए। यदि इस प्रकार के नियामको का आदर ऐसे स्थलों में नहीं करते है तो व्यञ्जनाव्यापार का ग्रह भी लड़खड़ा जायेगा तथा प्रकरणादि का उल्लङ्घन कर अप्रकृतार्थ के लिए सर्वत्र व्यञ्जना व्यापार से भी अर्थप्रत्यय नहीं किया जा सकेगा।

क्योंकि जब सर्वत्र अप्राकराणिक अर्थ का प्रत्यय करना ही है, तो अभिधा के नियामकत्व की कल्पना ही व्यर्थ है।

यदि यह कहे कि ऐसा नहीं है क्योंकि अभिधा में नियामकत्व का दृष्ट प्रयोजन भी है जैसे 'सैन्धवमानय' इस उदाहरण में नानार्थक सैन्धवपद का एकार्थमात्रपरत्व ही है। क्यों कि अर्थ विशेष स्मृति की व्यवस्था के विना आनयन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतः प्रकरण से अभिधा का नियमन दृष्टप्रयोजनवाला है, तो इस पर यह कहना है कि यदि व्यञ्जना व्यापार से भी अर्थान्तर अप्रकृतार्थ का प्रत्यय होता ही रहता है तो भी यह व्यवस्था कैसे सिद्ध होगी। क्योंकि एक ऐसा जलाशय है जिसका जल अभिमत क्षेत्र एवं अनभिमत क्षेत्र दोनों में जा सकता है। अभिमत क्षेत्र में जाने के लिए एक नाली का निर्माण कर दिया जाय, तथा अनभिमतक्षेत्र में जाने के लिए भी एक दूसरी नाली का निर्माण कर दिया जाय, तो कैसे कह सकते है कि अभिमतक्षेत्र में ही जल के जाने की व्यवस्था है। अतः अभिधा एवं व्यञ्जना रूप दो नाली के रहते हुए नानार्थकशब्द, जो साधारण जलाशय के समान है, उसका एकार्थमात्र परत्व या एकक्षेत्रमात्र गामित्व कैसे व्यवस्थित किया जा सकता है।

यदि यह कहें कि सर्वत्र नहीं, कही–कहीं जहाँ पर चमत्कार के लिए अप्राकरणिक अर्थ में भी कवि का तात्पर्य हो, अथवा जहाँ अश्लील दोष होता हो वहीं व्यञ्जनाव्यापार को माना जाय, इस व्यवस्था के लिए हमारे द्वारा उक्त नियामकों को अथवा दूसरे प्रकार के भी नियामको को मानना ही चाहिए। तो यह कहना भी व्यर्थ है क्योंकि 'करोतिकंसादि .... में तथा 'यस्याननं योनिरुदार ....' दोनों उदाहरणों में अभिधा से ही अप्रकृतार्थ के प्रत्यय की व्यवस्था बतला दी गयी है, व्यञ्जना की कल्पना का परिश्रम व्यर्थ है ऐसे स्थलों में व्यञ्जनावादियों के द्वारा भी अभिधा व्यापार का न मानना कठिन होगा।

तथा हि- यदि शक्तिरभिधा, निर्विवादमस्त्येवाप्राकरणिकेऽपि सा। यदि च काव्यप्रकाशिकाद्युक्तरीत्या शक्यार्थ-प्रतिपादकत्वरूपः शब्दव्यापारः, सोऽप्यस्त्येव। न हि तत्रा-प्राकरणिकशक्यप्रतिपत्तेः शब्दादन्यज्जनकम्। शक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमभिधा इति चेत्। अत्राप्राकरणिकोऽर्थः, तत्रागृहीतशक्तिकस्याभिधया किं न प्रतीयते, येन स तत्र न स्यात्। ननु शक्त्या साक्षात्प्रतिपादकत्वमभिधा। साक्षादि-त्यविशेषणे मुख्यार्थशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनव्यवधानेन

तत्संबन्ध्यर्थान्तरप्रतिपादनरूपाया लक्षणाया अप्यभिधा-
त्वप्रसङ्गात्। तथा च प्रागेवानुवर्तमानेन प्रकरणेन तत्प्रमेयोपस्थापनं
शीघ्रभावीति तद्व्यवधानेनार्थान्तरप्रतिपादनं नाभिधा इति चेत्,
न। 'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनमभिधा' इति लक्षणं
बिनैव साक्षात्वविशेषणं साधु, अनतिप्रसङ्गात्। तत्पदरूपेण
पदभङ्गकृतपदान्तररूपेण बार्थान्तरप्रतिपादनव्यव धनाभाव-
रूपसाक्षात्त्वविशेषणस्य गुरुत्वात्। तथाविशेषणे 'येन ध्वस्त-
मनोभवेन-' इत्यादौ धूर्जटिपक्षे-स्फुटपदसंबन्धितया प्रसिद्धि-
प्राचुर्येण च झटित्यर्थप्रतिपत्तिः। बैकुण्ठपक्षे - 'येन
ध्वस्तमनोभवेन-' इत्यादावस्फुटपदसंबन्धि तया 'शशिमच्छिरो-
हरः, अन्धकक्षयकरः' इत्यनयोरप्रयुक्तनिहतार्थत्वेनाप्रसिद्धतया
च विलम्बेन प्रतिपत्तिरिति सर्वसिद्धत्वेन तत्राभिधाविषयेऽपि
तदभावापत्तेः। प्रकृताप्रकृतोभयपरे यत्राप्रकृते प्रसिद्धतरम्,
प्रकृतेऽप्रसिद्धतरं पदम्, तत्र प्रसिद्धिप्राचुर्येणाप्रकृतार्थप्रतीतेरेव
प्राथमिकत्वेनाप्रकृतेऽभिधा, प्रकृते व्यक्तिः, इति वैपरीत्यापत्तेश्च।
प्रकरणमुल्लङ्घ्यापि प्रसिद्धतरार्थस्यैव प्रथमं स्मृतेः। अत
एव- 'द्वयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं निहतार्थकम्' इत्युक्तलक्षणस्य
निहतार्थस्य काव्यदोषत्वमुपगम्यते। प्रसिद्धतराप्रकृतार्थप्रतीत्या
प्रकृतार्थप्रतीतेर्व्यवधानात्। न च निहतार्थस्य दोषत्वात्तत्प्रयोगो-
ऽर्थद्वयविवक्षास्थलेऽपि काव्ये न संभवति इति वाच्यम्,
श्लेषयमकादिषु तस्य वृद्धैर्दोषत्वाभावस्योपपादितत्वात्।
'अन्धकक्षयकरः', 'राजा हरति लोकस्य', 'राजा राजार्चिता-
ङ्घ्रिरनुपचितकलो यस्य चूडामणित्वम्' इत्यादिदर्शनाच्च।
तस्माच्छब्दस्यार्थप्रतिपादनोपयोगितत्प्रत्यासत्तिरूपधर्मभेद एव
वृत्तिभेदप्रयोजको न तु तद्भेदाभावः। प्रतिपादनगत-
साक्षात्त्वव्यवहितत्वभेदे सत्यपि शक्तिशक्यसंबन्धरूप-
प्रतिपाद्यप्रत्यासत्तिभेदेनैवाभिधालक्षणयोर्भेददर्शनात्। तद् भेदाभावे
प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थगोचरशब्दश्लेषस्थले लक्षितलक्षणास्थले

व्यङ्ग्यस्थले चार्थद्वयप्रतीत्योः साक्षात्वव्यवहितत्वभेदे
सत्यप्यभिधालक्षणाव्यक्त्यतिरिक्तवृत्यदर्शनाच्च, इत्यप्रयोजक-
स्याव्यवस्थापादकस्य च साक्षात्वविशेषणस्यायोगात्
'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमेवाभिधा' इत्यप्रकृतेऽ-
प्यर्थेऽभिधाव्यापारो दुर्वारः।

यतोहि शक्तिरभिधा इति मन्यते तैः। अप्राकरणिकेऽप्यर्थे सा
निर्विवादमस्ति। शक्यार्थप्रतिपादकत्वरूपः शब्दव्यापारोऽभिधेति
यैः काव्यप्रकाशकारादिभिः स्वीक्रियते, सोऽप्यप्राकरणिके अस्ति।
यतो हि अप्रकारणिशक्यप्रतिपत्तये शब्दादन्यत्प्रतिपादकं नास्ति।
यदि शक्तिःशक्यार्थप्रतिपादकत्वरूपशब्दव्यापारश्चे त्युभयभिन्नत्वेन
''शक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमभिधे''ति उच्यते साप्यप्राकरणिके
घटत एव। गृहीतशक्तिकस्याप्राकरणिकोऽर्थः किमभिधया न प्रतीयते?
प्रतीयतएव। अत एतदपि अभिधाया लक्षणं अप्राकरणिकेऽर्थे
घटते।

यदि शक्तिग्रहमपेक्ष्य शक्त्या साक्षात् शब्दप्रतिपादकत्वम-
भिधा इति लक्षणमुच्यते तथा 'साक्षात्' विशेषणस्य प्रयोजनमेवं
निर्दिश्यते यत्, साक्षात् पदं लक्षणे न गृह्यते तदानीं लक्षणायाम-
तिव्याप्तिः स्यात्। यतो हि शक्त्या तत्प्रतिपादनव्यवधानेन तत्सम्ब-
न्ध्यर्थप्रतिपादनं लक्षणाया लक्षणम्। अतो व्यवहितेऽर्थे माभूत् इति
वारणाय साक्षात् पदं सार्थकम्। एवमेव नानार्थक स्थलेऽपि साक्षात्
विशेषणस्य सार्थकत्वम्। अनुवर्तमानप्रकरणेन तत्प्रकृतार्थोपस्थापनं
शीघ्रभावीति तत्राभिधा भवतु अप्रकृतार्थान्तरप्रतिपादने विलम्बरूपव्यव-
धानसत्वात् तत्रभिधा न प्रसरेत इति साक्षात्पदमावश्यकम् इति
चेत्।

अत्रोत्तरन्ति दीक्षिताः। साक्षात्वविशेषणं विनैव केवलं
तद्विषयकशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनमभिधा'' 'इत्येतन्मात्रलक्षणं
साधु। इदमेव लक्षणमतिव्याप्तिदोषशून्यम्। यतोहि सभङ्गश्लेषस्थले
तत्पदरूपेण, पदभङ्गकृतपदान्तररूपेण वार्थान्तरप्रतिपादने विलम्बरूप-
व्यवधानसत्वादुभयत्राभिधायाः सत्वात् साक्षात्पदमनादेयम्। साक्षात्
विशेषणदाने 'येन ध्वस्तमनोऽभवेन ....। इति पद्ये, शङ्करपक्षे
प्रसिद्धिप्राचुर्येण झटित्यर्थप्रतिपत्तिः विष्णुपक्षे शशिमच्छिरोहर इति

अन्धकक्षयकर इत्यनयोरप्रयुक्तनिहतार्थतया विलम्बेनार्थप्रतिपत्ति-
रिति सर्वसिद्धतया विष्णुपक्षीयोऽभिधाविषयो न स्यात्। तथा च
प्रकृतमभिधेयमप्रकृतमनभिधेयमित्युच्यते तत्रापिदोषः स्यात् यतो हि
यत्र निहतार्थत्वदोषग्रस्तत्वेनाप्रकृतं प्रसिद्धितरं प्रकृतञ्चा प्रसिद्धतरं
तत्र प्रसिद्धिप्राचुर्येणाप्रकृतार्थप्रतीतिरेव साक्षात् भवति तत्रैवामिधा,
प्रकृते च तदन्येति वैपरीत्यपत्तिः। प्रसिद्धतराप्रकृतार्थ प्रतीत्या
प्रकृतार्थप्रतीतेर्व्यवधानरूपनिहतार्थत्वदोषदुष्टस्यापि श्लेषयमकादौ
दोषाभावत्वमाचार्यैर्निर्दिष्टमिति कृत्वा तत्प्रयोगोऽर्थ द्वयविवक्षास्थले
काव्ये स्वीकृत एव। अतएवान्धकक्षयकर इत्यादि प्रयोगेऽपि
साधुकाव्यत्वं निर्दिष्टमस्ति। अतः 'साक्षात्' पदं अभिधा- लक्षणे न
देयम्।

साक्षात्पदानुपादाने अभिधालक्षणादिषु भेदाभाव प्रसज्येत इत्यपि
न वक्तव्यम्। वस्तुतः शब्दस्यार्थप्रतिपादनोपयोगितत्प्रत्यासत्तिरूप-
धर्मभेदः परस्परवृत्तिभेदप्रयोजकः। इत्थं शक्तिरूपप्रतिपाद्यप्रत्यासत्ति-
भेदेनाभिधा शक्यसम्बन्धरूपप्रतिपाद्यप्रत्यासत्तिभेदेन लक्षणेति
उभयोर्भेदः। साक्षाद्व्यवहितत्वं तु तयोर्न नियामकम् यतो हि साक्षाद्-
व्यवहितत्वे सर्वासु अभिधालक्षणाव्यञ्जनासु अर्थद्वयप्रतिपादनासु
सामन्यतया लक्ष्यते। प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थगोचरशब्दश्लेषस्थले लक्षित-
लक्षणास्थले तथा च व्यङ्ग्यस्थले अर्थद्वयप्रतीत्योः साक्षात्वव्यवहितत्वे
स्पष्टं लभ्येते क्रमेण तेषु स्थलेषु अभिधालक्षणाव्यञ्जनेति वृत्तिः।
न तु तदतिरिक्ता काचनान्येति, अव्यवस्थापादकसाक्षाद् विशेषणं,
अभिधालक्षणे न देयम्। अतः तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य
तत्प्रतिपादकत्वमेवाभिधा' इति लक्षणं पर्यवसितम् तत्तु नानार्थकस्थल-
ऽप्रकृतेऽपि घटत एव अतस्तत्राप्यभिधाव्यापारो दुर्वारः।

अब अभिधा का लक्षण अप्रकृतार्थ में घटता है कि नहीं इस पर
विचार करते है। यदि अभिधा का लक्षण, 'शक्ति' है तो अप्रकृत अर्थ
में भी निर्विवादरूप से 'शक्ति' है। यदि काव्यप्रकाशकारादि के अनुसार
'शक्यार्थप्रतिपादकत्वरूप शब्द व्यापार' अभिधा है तो भी अप्रकृतार्थ में
संगत होती है। क्योंकि अप्राकरणिक शक्य के प्रत्यय के लिए शब्द से
भिन्न की जनकता नही ही है। यदि कहे कि शक्तिग्रह की अपेक्षाकर
शक्यार्थप्रतिपादकत्व को अभिधा कहते है, तो पूछते है कि गृहीतशक्ति
वाले व्यक्ति को अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है

क्या ? जिससे अप्राकरणिक में शक्तिग्रह न माना जाय। यदि यह कहे
कि 'शक्तिग्रह से साक्षात् शक्यार्थप्रतिपादकत्व को अभिधा कहते है
क्योंकि यदि 'साक्षात्' विशेषण अभिधालक्षण में नहीं दिया जायेगा तो
मुख्यार्थशक्तिग्रह के सहयोग से शक्यप्रतिपादन के व्यवधान से, शक्य-
सम्बन्धी अर्थान्तर का प्रतिपादन करने वाली लक्षणा में अतिव्याप्ति होगी।
इस प्रकार नानार्थक स्थल में भी पहले से ही अनुवर्तमान प्रकरणादि की
सहायता से प्रकृतप्रमेयार्थ का उपस्थापन शीघ्रभावी है तथा अप्रकृतार्थान्तर
का प्रतिपादन व्यवहित होने से अप्रकृतार्थ में अभिधा नहीं होगी तो यह
भी नहीं कह सकते क्यों कि अभिधालक्षण में 'साक्षात्' पदविशेषण व्यर्थ
है केवल 'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनमभिधा' इतना ही लक्षण
अतिव्याप्त्यादिदोष से शून्य है। क्योंकि सभङ्गश्लेष स्थल में श्लिष्टपद
रूप से, तथा पदभङ्ग से प्राप्त पदान्तर रूप से अर्थान्तर के प्रतिपादन के
लिए साक्षात् पद नहीं देना चाहिए क्योंकि साक्षात् पद व्यवधानाभाव रूप
है, और पदभङ्ग से प्राप्त पदान्तर में विलम्ब होने के कारण व्यवधान है।
जैसे 'येन ध्वस्तमनोऽभवेन पद्य में, शंकर पक्ष में, प्रसिद्धिप्राचुर्य से
स्फुटपदसम्बन्धी अर्थप्रत्यय के कारण झटिति अर्थप्रतिपत्ति हो जाती है।
विष्णुपक्ष में शशिमच्छिरोहर, अन्धकक्षयकर इत्यादि अस्फुटपदसम्बन्धी
अर्थप्रत्यय विलम्ब से होता है क्यों कि इनमें अप्रयुक्तत्व तथा निहतार्थत्व
दोष है जो अप्रसिद्धार्थत्व के कारण विलम्ब से प्रतीति कराते है। अतः
विष्णुपक्ष में विलम्ब होने से, उपस्थित व्यवधान के कारण साक्षात्
विशेषणविशिष्ट आपकी अभिधा का लक्षण संगत ही नहीं हो सकेगा।
और आप उसे भी अभिधेय ही मानते है।

दूसरी बात प्रकृतार्थ तथा अप्रकृतार्थ विषय में भी है नानार्थक स्थल
में जहाँ पद अप्रकृतार्थ के लिए प्रसिद्धतर है तथा प्रकृतार्थ के लिए
अप्रसिद्ध है वहाँ प्रसिद्धिप्राचुर्य से अविलम्बेन प्रथम उपस्थित अप्रकृतार्थ
ही अभिधा का विषय होने लगेगा, प्रकृतार्थ में व्यञ्जना होने लगेगी।
अतः साक्षात् पद लक्षण में नहीं देना चाहिए। नही तो वैपरीत्य भी होने
लगेगा।

प्रसिद्धतर अर्थ की प्रतीति, प्रकरण का उल्लङ्घन करके भी होती ही
है इसीलिए निहतार्थत्वदोष होता है क्योंकि द्वयोर्थकपदका अप्रसिद्ध अर्थ
में प्रयोग ही निहतार्थत्व है इस प्रकार प्रसिद्धतर अप्रकृत अर्थ से अप्रसिद्ध
प्रकृतार्थ प्रतीति में व्यवधान होता ही है। यह भी नहीं कह सकते कि
निहतार्थत्व दोष है अतः निहतार्थपद का प्रयोग अर्थद्वयविवक्षास्थल वाले
काव्य में भी नहीं कर सकते, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्राचीनों
ने श्लेष यमकादि अलंकार में इसे दोषाभाव के रूप में माना है।
'अन्धकक्षयकर' 'राजा हरति लोकस्य' इत्यादि में प्रयोग देखे भी जाते है।

इसलिए साक्षात् तथा व्यवहितत्व विशेषण के विना, वृत्तियों के लक्षण का भेदक, अर्थ प्रतिपादन में जो उपयोगी, तत्प्रत्यासत्तिरूप धर्म, उसे मानना चाहिए। प्रतिपादनगतं साक्षात्व तथा व्यवहितत्व रूप भेद, इन सभी वृत्तियों में रहने पर भी, शक्यसम्बन्ध रूप जो प्रतिपाद्यप्रत्यासत्ति भेद तथा शक्यसम्बन्धरूप जो प्रतिपाद्यप्रत्यासत्ति भेद, यहीं भेद अभिधा तथा लक्षणा के भेदक है यदि इस भेद को नहीं मानते है, तथा साक्षात्व व्यवहितत्व को भेदक मानते है, तो प्रसिद्धार्थ तथा अप्रसिद्धार्थ विषयक शब्द श्लेषस्थल मे लक्षितलक्षणास्थल में, तथा व्यङ्ग्यस्थल में जहाँ अर्थद्वय की प्रतीति हो रही है वहाँ अभिधा लक्षणा व्यञ्जना को कैसे मानेंगे, तीनों में साक्षात्व तथा व्यवहितत्व प्राप्त है। इनसे अतिरिक्त कोई वृत्ति आप मानते नहीं है। इस प्रकार अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला अप्रयोजक जो 'साक्षात्' विशेषण है उसे अभिधालक्षण में नहीं देना चाहिए, बल्कि केवल 'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमेवा-भिधा' इतना ही लक्षण करना चाहिए। और ऐसा लक्षण करने पर अप्रकृतार्थ में भी अभिधालक्षण घटित होगा ही अतः अभिधाव्यापार अप्रकृतार्थ में दुर्वार है।

नैयायिकास्तु-प्रसिद्धिप्राचुर्ये सति प्रकरणादिशून्यस्याप्यर्थस्य स्मृतेः, प्रसिद्ध्यभावे प्रकरणादिमतोऽप्यस्मृतेश्च, प्रकरणादिकं नाभिधानियामकम्। शक्तिग्रहसंस्कारपाटवमात्रनियम्यत्वात्तस्याः। किंतु लिङ्गविधया तात्पर्यग्राहकम्। अत एव 'हरिरस्ति' इत्यनारभ्यवादश्रवणेऽपि हरिशब्दस्यार्यमानिलेन्द्रचन्द्रादयोऽर्था इत्यवधार्यंते एव वक्तुः क्व तात्पर्यमिति नावधार्यते-इत्याहुः।

तद्रीत्या न कथंचिदपि प्रकरणाप्रकरणादिनाभिधानियमनं शक्यशङ्कम्। तस्मात् प्रस्तुताप्रस्तुतोभयपरेऽपि प्रस्तुता-प्रस्तुतोभयवाच्यार्थेऽभिधैव वृत्तिः। तदुपस्थितेषु च पदार्थेष्वा-काङ्क्षादिसहकारिवशादुभयविधवाक्यार्थप्रत्ययः, इत्यप्रस्तुत-विषये न पदार्थप्रतीतये नापि वाक्यार्थप्रतीतये व्यक्तिरुपगन्तव्या। यत्तु प्राचामप्रस्तुते शक्तिमूलव्यञ्जनवृत्यभिधानम्, तदप्रस्तुतार्थ-प्रतीतिमूलके यथा 'उदयमारूढः –' इत्यादिविशेषणविशिष्टः पृथिवीपतिः स्वल्पैर्ग्राह्यधनैर्लोकस्य हृदयं रञ्जयति, एवं तथाभूतश्चन्द्रमा मृदुलैः किरणैः, इत्यादिरूपेण प्रतीयमाने

उपमाद्यर्थालंकारे तदवश्यंभावदृढीकरणाभिप्रायेण। न तु तत्रापि वस्तुतो व्यञ्जनव्यापारास्तित्वाभिप्रायेण।

'आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा–
माक्रम्य च स्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन–
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्॥'

इत्यादिना शब्दशक्तिमूलस्यालंकारध्वनेरेवोदाहरणत्वेन तैरपि लिखितत्वात्।

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।' इति श्लेषापादितविशेषणसाधारण्यनिमित्तसमासोक्त्यलंकारो-दाहरणे रागादिशब्दानामप्रस्तुतेऽप्यभिधावृत्तेरेव श्लेषव्यवहारेण स्फुटीकरणाच्च।

न च अत्र स्वतोऽप्रस्तुतयोरपि कामिनोः प्रस्तुतशशिनिशा-वच्छेदकत्वेनान्वयान्न तत्र तयोः सर्वथैव प्रकरणासंभवः – इति वाच्यम्, 'विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति लक्षणानुरोधेनाप्रस्तुतप्रतिपत्तेर्विशेषणसाम्याधीनत्वेना-प्रस्तुतस्य प्रकरणसंबन्धावगमात्प्रागेव तद्विशेषणेष्वभिधाया वाच्यत्वात्। प्रस्तुतोपमानत्वादिना यथा- कथंचिद्भाविप्रकरण-संबन्धस्येहापि सद्भावाच्च। सर्वथा प्रस्तुतासंबद्धस्याप्रस्तुतस्य क्वापि कविवक्ष्यमाणगोचरत्वाभावात्।

नैयायिका अपि वदन्ति। प्रकरणादिकं नाभिधानियामकम्। यतोहि प्रसिद्धिप्राचुर्ये सत्यप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य स्मृतिः प्रसिद्ध्यभावे प्राकरणिकस्याप्यस्मृतिर्भवति। अतः प्रकरणादिकं विहाय शक्तिग्रहसंस्कारपाटवमात्रं नियामकम् तस्याः लिङ्गविधया तात्पर्यग्राहकं तु प्रकरणं भवतु। अत एव प्रकरणाद्यभावस्थले हरिरस्ति इति हरिशब्दस्यार्यमानिलेन्द्रचन्द्रादयोऽप्यर्था अवधार्यन्ते वक्तुः क्व तात्पर्यमिति नावधार्यते। इति।

इत्थं प्रकरणाप्रकरणादिनाऽभिधानियमनं शक्यशङ्कमपि नैतन्मते। अतः प्रस्तुताप्रस्तुतोभयार्थेऽभिधैव वृत्तिः।

अनयोपस्थितेषु पदार्थेषु आकाङ्क्षादिवशादुभयविधवाक्यार्थ-प्रत्ययः न तु व्यञ्जनया अप्रस्तुतपदार्थवाक्यार्थयोरन्यतरस्यापि प्रतीतिः।

इत्थं अप्रस्तुतेऽर्थे व्यक्तिं विनिवार्य तन्मतं संगमयितुं व्याख्याति। प्राचीनैः शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनं यदप्रस्तुतेऽभिहितं तत्तु तदप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलकं न तु शब्दमूलकंम्। यथा-

असावुदयमारूढः इत्यत्राप्रस्तुतार्थमूलकोपमाद्यलकारः, एतादृशोऽलंकारोऽवश्यं भवतु इति दृढीकरणायैव शब्दशक्तिमूल-व्यञ्जनवृत्यभिधानं न तु अप्रस्तुतार्थप्रतीतये। एतादृशो विशिष्टोनृपः यथा स्वल्पग्राह्यधनैर्लोकस्य हृदयं रञ्जयति तथाभूतश्चन्द्रो मृदुलैः किरणैरित्युपमा व्यज्यते। न त्वप्रस्तुतार्थेऽपि व्यञ्जनव्यपारास्ति-त्वाभिप्रायेण। यथा अत्र शब्दशक्तिमूलालंकारध्वनिर्दर्शितः "आच्छादितायत" इति।

भुवि नगेशम् रैवतकं शिवं वोद्वीक्ष्य को न विस्मयते। रैवतक पक्षे = नगानामीशः नगेशः। दिशश्चाम्बरञ्चदिगम्बरे, आच्छादिते आयते दिगम्बरे येन तम्। गां पृथ्वीमाक्रम्य स्थितम्। तथा च उदग्राणि विशालानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य तम्। शिरसिपतद्धिम-कान्तिमच्छिखरम् अथवा शिरसि स्खलन्ती स्फुरन्ती तुहिनदीधितेः कान्तिर्यस्य तम्। इति।

शिवपक्षे दिगेवाम्बरं दिगम्बरं, आच्छादितं वसितं आयतं दिगम्बरं येन तम्। उदग्रविशालशृङ्गम् = उदग्रे विशाले शृङ्गे यस्य तादृशं गाम् वृषभमाक्रम्य संस्थितम्। तथा च मूर्ध्नि स्फुरच्चद्रकलं शिवम्। वीक्ष्य को न विस्मयते।

नात्राप्रस्तुतार्थरूपवस्तुध्वनिः। तथैव समासोक्त्यलंकारोऽपि ध्वनितः, न तत्रापि वस्तुध्वनिः। यथा उपोढरागेणेति।

तैः प्राचीनैः समासोक्त्यलंकारेऽपि श्लेषेण विशेषणानां साधारणत्वापादनेनाप्रस्तुतेऽर्थे अभिधावृत्तेरेव स्वीकारः कृतः। न तु व्यञ्जनायाः। यथा - उपोढरागेण विलोलतारकमित्यत्र रागादिशब्दा-नामप्रस्तुतानुरागाद्यर्थे श्लेषव्यपदेशादभिधावृत्तिरेव स्वीकृता। श्लेषस्थले उभयत्राभिधैव तैः स्वीकृताऽस्ति। न चात्राप्रस्तुस्य सर्वथा प्रकरणासम्भवः इति न मन्तव्यं, यतोहि अप्रस्तुतयोरपि नायकयोः

प्रस्तुतशशिनिशावच्छेदकत्वेनैवान्वयः, अतः प्रस्तुतसम्बन्धात् तस्यापि प्रस्तुतत्वमेवेति नामिधया ग्रहणे दोष इति वक्तुं शक्यते, 'विशेषणसाम्यादप्रस्तुततस्य गम्यत्वे समासोक्ति'रिति लक्षणानुसारेण, विशेषणसाम्याधीनाप्रस्तुतप्रतिपत्तिरिति स्पष्टा, अतः अप्रस्तुतस्य प्रकरणसम्बन्धावगमात् प्रागेव तद्विशेषणेषु अभिधायाः प्रवृत्तत्वाद् अप्रस्तुतार्थोऽभिधेय एव।

असावुदयमारूढः .... इत्यादावपि प्रस्तुतस्योपमानत्वादिना अप्रस्तुतस्यापि प्रस्तुतेन सह सम्बन्धात् कथञ्चिद्भाविनः प्रकरणसम्बन्धस्य सत्वमस्ति। सर्वथा प्रस्तुताद-सम्बद्धस्याप्रस्तुतस्य क्वापि कविवक्ष्यमाणगोचरत्वाभावात्।

नैयायिक भी कहते है कि - 'प्रसिद्धिप्राचुर्य होने पर प्रकरणादि शून्य भी अर्थ की स्मृति होती है प्रसिद्धि के अभाव में सप्रकरण भी अर्थ की स्मृति नहीं होती है इसलिए प्रकरणादि अभिधा के नियामक नहीं है। शक्ति संस्कार के पाटव मात्र से ही वह नियम्य होती है किन्तु लिङ्गलिङ्गिभाव से प्रकरणादि तात्पर्यग्राहक होते है। इसलिए 'हरिरस्ति' यह वाक्य जब एकाएक श्रुत होता है तो हरिशब्द के सूर्य वायु इन्द्र चन्द्र सभी अर्थ उपस्थित होते हैं, तथा यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वक्ता का तात्पर्य किसमें है। इस प्रकार नैयायिको की रीति से भी प्रकरण या अप्रकरणादि से अभिधानियमन किसी भी प्रकार शक्यसम्भव नहीं है। इसलिए प्रस्तुताप्रस्तुतोमयार्थस्थल में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थ वाच्य ही है अत उभयत्र अभिधा वृत्ति ही है। अभिधा से उभयत्र, उपस्थित पदार्थो में, आकांक्षादि वश उभयविध वाक्यार्थ का प्रत्यय होता है। इसलिए अप्रकृतार्थ में न पदार्थ के लिए और नही वाक्यार्थ के लिए व्यञ्जना माननी चाहिए।

प्राचीनों ने जो अप्रस्तुत अर्थ में (शब्द) शक्तिमूलव्यञ्जना वृत्ति स्वीकार की है वह अप्रसतुतार्थप्रतीतिमूल उपमाद्यलंकार के लिए की है न कि उसके लिए। वस्तुतः, अप्रकृतार्थ में व्यञ्जनव्यापार का अस्तित्व वे भी नहीं मानते। केवल उपमाद्यलंकार के अवश्यभाव के स्पष्टीकरण के अभिप्राय से शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना मानते है। जैसे उदयमारूढ ..... इत्यादि स्थल में इन विशेषणो से विशिष्ट नृप स्वल्पग्राह्य (टैक्स) धन से लोगों के हृदय को रञ्जित करता है वैसे ही चन्द्रमा मृदुल किरणों से। 'इस प्रकार प्रतीयमान उपमा की अवश्य प्रतीति के लिए शक्तिमूलव्यञ्जना मानी गयी है क्योकि प्राचीनों ने भी शब्दशक्तिमूल अलंकार ध्वनि का उदाहरण 'आच्छादितायतदिगम्बर ...... को दिया है। इसका अर्थ है

रैवतक पर्वत जो साक्षात् शिव है या शिव के समान है उसे देखकर कौन विस्मित नही होता है। दोनों समान है। रैवतक पक्ष में - जो विशाल असीमित दिशाओं तथा आकाश को आच्छादित किया है। पृथ्वी को आक्रान्त करके स्थित है जिसके उदग्र विशाल विशाल शृङ्ग है। तथा स्फुरित चन्द्रमण्डल को चोटी के ऊपर धारण किए हुए है। शिव पक्ष में= जिन्होंने दिगम्बर, दिशा रूपी अम्बर वस्त्र धारण किया है (आच्छादित का अर्थ वसित अर्थात् वस्त्र के रूप में अर्थ गृहीत करना है) उदग्र विशाल सींग वाले नन्दी वृषभ पर स्थित है तथ जिसके शिर पर सुशोभित चन्द्रकला है।

समासोक्ति अलंकार में भी अप्रकृतार्थ के लिये प्राचीनों ने भी अभिधा मानी है जैसे उपोढरागेण में ....।

इस समासोक्ति में विशेषण का साधारणत्व श्लेष से सम्पादित है अत: राग आदि शब्द का अनुराग आदि अप्रस्तुत अर्थ जो श्लेष से आ रहा है वहाँ अभिधा ही का स्फुटीकरण हो रहा है क्योंकि श्लेष स्थल में अभिधा ही मानी गयी है।

यदि यहाँ यह कहे कि अप्रस्तुत अर्थ भी प्रस्तुतार्थ से सम्बन्ध रखने के कारण इसे सर्वथा अप्रस्तुत नहीं कह सकते क्योंकि अप्रस्तुत दोनों नायिका नायक का अन्वय, निशा शशि रूप प्रस्तुतार्थावच्छेदकत्वेन है अत: अभिधा हो सकती है, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि समासोक्ति का लक्षण है 'विशेषणों की समता से अप्रस्तुत का गम्यत्व' इससे स्पष्ट है कि अप्रस्तुतार्थ का बोध विशेषणों के साम्य के अधीन होने से अप्रस्तुत का प्रकरणसम्बन्ध के बोध के पूर्व ही, विशेषणार्थ अभिधा से वाच्य हो जाते हैं।

नन्वेवम्—शब्दशक्तिमूलस्यालंकारध्वने: 'आच्छादितायत-दिगम्बरम्-' इत्याद्युदाहरणसत्वेऽपि तन्मूलो वस्तुध्वनिर्लुप्येत, निरलंकारेऽप्रस्तुतार्थ एव वस्तुध्वनेरुदाहरणीयत्वात्, तत्र च त्वयाभिधाङ्गीकारात्-इति चेत्, न। यत्राप्रस्तुतेऽर्थेऽभिधयैव प्रतिपाद्यमाने तन्मूलमनभिधेयं वस्तु प्रतीयते तत्र तदङ्गीकारात् इति। यथा-

'शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।' इति।

अत्र हि 'अशनि'शब्देन प्रस्तुताद्वज्रादन्यस्मिन्समभिव्याहृत 'शनिविरूद्धरूपे' अप्यर्थेऽभिधयैव प्रतिपाद्यमाने 'विरूद्धावपि

त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत:' इत्युपश्लोक्यस्य प्रभावातिशय: प्रतीयते। इत्थमेव प्राचीनैरपि शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुदाहृत:।

ननु शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्च स्वीकृत: पूर्वै:। तत्र आच्छादितायतादिस्थलेषु अलंकारध्वनिर्दर्शित: निरलंकारोऽ-प्रस्तुतार्थे वस्तुध्वनि: कथं स्याद्, यतो हि त्वया तत्राभिधा स्वीकृता इति, न वक्तुं युक्तम्। यतो हि अभिधयैव प्रतिपाद्यमानेऽप्यप्रस्तुतेऽर्थे अप्रस्तुतार्थमूलसर्वथानभिधेयं यत् वस्तु प्रतीयते तत्र तस्याङ्गीकारात्। यथा।

शनिरशनिश्च तमुच्चैनिहन्ति .... इति।

हे नरेन्द्र ! यस्मै कुप्यसि तं शनि: अशनिश्च उच्चैर्निहन्ति इति। अत्र अशनिपदं नानार्थकम्। प्रस्तुतो वज्रमर्थ:। अप्रस्तुतस्तु शनिविरुद्ध:। अत्र द्वावप्यर्थौ वाच्यौ। अत: वाच्यादेव विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थभेकं कार्य कुरुत: ''इत्यस्माद् उपश्लोक्यस्य नृपते: प्रभावातिशयो वस्तु ध्वन्यते। प्राचीनैरपि इत्थमेव शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुदाहृत:।

इसी प्रकार अलंकारध्वनि आदि स्थलों में भी, प्रस्तुत के उपमानादि, अप्रस्तुत का, भी प्रकरण से कथाञ्चित् भावी सम्बन्ध हो ही सकता है। बिल्कुल प्रस्तुत से असम्बद्ध अप्रस्तुत कही भी कवि से विवक्षित नहीं दीख पड़ता।

अस्तु आपने 'आच्छादितायतदिगम्बर ....। आदि उदाहरणों में अलंकार ध्वनि की सत्ता तो दिखला दी किन्तु अब शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि कहाँ होगी , एतन्मूल वस्तुतध्वनि का लोप ही हो जायेगा क्योंकि सर्वथा अलंकार रहित वस्तु ध्वनि अप्रस्तुतार्थ में ही प्राचीनों ने मानी है और वहाँ आपने अभिधा मान ली, यदि ऐसा कहते है तो उसका उत्तर यह है कि जहाँ पर अप्रस्तुत अर्थ अभिधा से ही प्रतिपादित हो जाने के पश्चात् अप्रस्तुतार्थमूलक कोई अनभिधेय वस्तु, प्रतीत होती हो वहाँ वस्तुध्वनि स्वीकार्य है। जैसे शनिरशनिश्च .....। उदाहरण में।

हे नरेन्द्र आप जिस पर कोप करते है उसको शनि तथा अशनि दोनों मारते है। यहाँ अशनि शब्द नानार्थक है। इससे प्रस्तुतार्थ वज्र के अतिरिक्त अप्रस्तुतार्थ शनिविरुद्ध 'रूप अर्थ भी अभिधा से प्रतिपादित हो जाने पर ही, 'विरुद्ध भी दोनो आप के अनुवर्तन के लिए एक ही कार्य करते है' यह अर्थ होता है। अप्रस्तुत इस अभिधेयार्थ से उपश्लोक्य राजा का प्रभावातिशयरूप वस्तु व्यङ्ग्य होती है। इस प्रकार प्राचीनों ने

शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि का उदाहरण दर्शाया है।

ननु, –

'भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्।।'

इत्यत्र 'विष' पदेनाप्रस्तुतं गरलं व्यङ्ग्यं, वाच्यस्य 'जलद एव भुजगः' इति रूपकस्य सिद्धिकृदिति वाच्यसिद्ध्यङ्गं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरता मम्मटाचार्येणाप्रस्तुते शक्येऽपि शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुक्तः। सत्यम्। अप्रस्तुतार्थ-प्रतीतिमूलतया प्रतीयमानयोर्वस्त्वलंकारयोर्व्यक्तयवश्यंभाव-दार्ढ्यायाश्रितम् 'अप्रस्तुतार्थेऽपि व्यक्तिः' इति प्रौढिवादमात्रम-वलम्ब्य तत्प्रवृत्तमिति नात्राभिनिवेशः कार्यः।

ननु इति। पुनः प्रश्नयति, यत्त्वयोच्यते अप्रतुतेऽर्थे न वस्तु ध्वनिरिति तन्नोचितम्। मम्मटेन अप्रस्तुते शक्येऽपि शब्दशक्ति मूलो वस्तुध्वनिरुदाहृतः। यतोहि भ्रमिमरतिमलसहृदयतां ....।

अस्यार्थः – जलद एव भुजगः सर्पः, तदुत्पन्नं विषं वियोगिनीनां भ्रमिं अरतिं पीडां, अलसहृदयतां सालसतां प्रलयं मूर्च्छां शरीरदौर्बल्यं तथा च मरणं कुरुते।

अत्र वर्षर्तुप्रस्तावे नानार्थकविषपदस्य प्रस्तुतोऽर्थः जलं, अप्रस्तुतोऽर्थः, गरलम्। अत्र व्यङ्ग्यं गरलं, वाच्यस्य 'जलद एव भुजग' इति रूपकस्य, साधर्म्यनिरुपादनेन सिद्धकृदस्ति। अतएवात्र वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्यमिति नाम दत्तम्। यदि अप्रस्तुतोऽप्य-भिधेयः स्यात्तर्हि कथमत्र एतन्नाम घटते।

अत्रोत्तरति। वस्तुतः प्रतीयमानौ निर्दिष्टौ वस्त्वलङ्कारौ अप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलकौ स्तः। तयोर्व्यक्त्यवश्यंभावाद् अप्रस्तुतार्थेऽपि व्यक्तिः स्वीकृता, वस्तुतोऽत्र व्यक्तिस्वीकारः प्रौढिवादमात्रम्, व्यक्तिस्वीकारेऽभिनिवेशः न कर्तव्यः।

यदि यह कहे कि नहीं प्राचीनों का यह अभिमत नहीं है क्यों कि मम्मट ने "भ्रमिमरतिमलसहृदयतां" उदाहरण में अप्रस्तुत शक्य में शब्दशक्तिमूल ध्वनि स्वीकार की है। इस पद्य का अर्थ है –

जलद रूपी भुजग से उत्पन्न विष, वियोगिनियो को भ्रमि अरति सालसता, प्रलय, मूर्च्छा, अन्धकार शरीरदाबर्वल्य तथा हठात् मरण भी

सम्पादित कर देता है।

यहाँ विष पद नानार्थक है वर्षर्तु का प्रकरण होने से विष का जल अर्थ प्रस्तुत है तथा अप्रस्तुत 'गरल' व्यङ्ग्य होकर वाच्य रूपक, 'जलद ही भुजंग है' इसकी सिद्धि कर रहा है। अतः यहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग-गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। अतः इस नाम से ही स्पष्ट है कि जिसे आप अप्रस्तुतशक्य कहते है उसी को व्यङ्ग्य मानकर प्रचीनो ने शब्द शक्ति मूल वस्तु ध्वनि मानी है।

इसके उत्तर में कहते है कि सत्य है, किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि अप्रस्तुतार्थ मूलक जो वस्तु या अलंकार प्रतीयमान है उनकी निश्चिततया व्यङ्यता के लिए,अप्रस्तुततार्थ में भी व्यञ्जना मान ली गयी है वस्तुतः केवल अलंकारादि में ही व्यञ्जना है। अप्रस्तुतार्थ में व्यञ्जना केवल प्रौढिमात्र है अतः इसमें अभिनिवेश नही करना चाहिए।

ननु–एवं प्रस्तुतार्थपर्यालोचनालभ्ययोरेव वस्त्वलंकारयो-र्व्यक्त्युपगमे तत्रार्थशक्तिमूलैव व्यक्तिर्भवेदिति पृथगर्थशक्ति-मूलध्वनेः शब्दशक्तिमूलो न स्यात्–इति चेत्, मैवम्। तथात्वेऽपि प्रस्तुताप्रस्तुतोभयसाधारणशब्दसापेक्षतया प्रस्तुतमात्रापरपर्याय-शब्दान्तरपरिवृत्यसहिष्णुत्वेन ततस्तस्य पृथग्व्यवस्थितेः। एवमन्येऽप्यप्रस्तुतशक्ये व्यक्त्यनुपगमे संभाविताः क्षुद्रोपद्रवा निरसनीयाः।।

।। इत्यप्पय्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके मुख्यवृत्तिनिर्णयो नाम प्रथमः परिच्छेदः।।

पुनः प्रश्नमुत्थापयति, ननु प्रस्तुताप्रस्तुतयोरुभयोरर्थयोवाच्यत्वेन प्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतार्थमूलयोरनयोर्वस्त्वलंकारयोरर्थशक्तिमूलोत्थयो-र्वस्त्वलंकारयोर्मध्ये स्वान्तर्भावात् पृथग्गणनस्य नास्त्यावश्यकतेति स्वयमायातम्, तयोरैक्यमिति न वक्तव्यम्। उभयोर्भेदक-तत्वमित्थमस्ति, एकत्र प्रस्तुताप्रस्तुतोभयार्थसाधारणशब्दसापेक्षतया श्लिष्टशब्दोत्थत्वेन अन्यत्र तु प्रस्तुतमात्रार्थस्य अपरपर्यायपरिवृत्य-सहिष्णोरश्लिष्टशब्दोत्थत्वेन तयोः पृथक्त्वं मन्तव्यम्। एवमप्रस्तुतशक्ये व्यक्तेर्निरासाय ये केचन क्षुद्रोपद्रवाः स्युस्ते निरसनीयाः।

अब एक प्रश्न पुनः खड़ा होता है कि यहाँ अप्रस्तुतार्थ को भी प्रस्तुतार्थ मान लेने पर वाच्यरूप प्रस्तुतार्थपर्यालोचना से होने वाली वस्तु

तथा अलंकार ध्वनियों में भी अर्थशक्तिमूल ध्वनि ही होगी अत: अर्थशक्तिमूल ध्वनि से पृथग् शब्दशक्तिमूल ध्वनि नहीं हो पायेगी तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि शब्दशक्तिमूल में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ में साधारण श्लिष्ट शब्द होते है तथा अर्थ शक्तिमूल में मात्र प्रस्तुत अर्थ परक शब्द जो पर्यायन्तरकी परिवृत्ति को नहीं सहन कर सकते ऐसे अश्लिष्ट शब्द होते है अत: दोनों की पृथग्-पृथग् व्यवस्था भी है। इसी प्रकार यदि अप्रस्तुत जो शक्यार्थ है वहाँ यदि कोई व्यञ्जना मानने के लिए छोटे मोटे उपद्रव आते हो तो उन्हें दूर कर देना चाहिए।

।। इत्यप्पय्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके मुख्यवृत्तिनिर्णयो
नाम प्रथम: परिच्छेद:
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय
साहित्यविभागाध्यक्षेण प्रोफेसर्चन्द्रमौलिद्विवेदिना व्याख्यात:।।

अथ लक्षणा निर्णीयते।

सा च मुख्यार्थसंबन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्। तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव, तत्सदृशेऽपि तन्निरूपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासंबन्धसत्वात्। न हि 'साक्षात्संबन्धे विशिष्टबुद्धियोग्यसंबन्धे वा सत्येव लक्षणा' इति नियम:, चक्षुरादेर्घटनैल्यादिषु संयुक्तसमवायादिवद्विशिष्ट-बुद्ध्ययोग्यस्य परम्परासंबन्धस्यापि प्रत्यासत्तित्वोपपत्ते:, व्यतिरेकलक्षणास्थले तन्निरूपितविरोधाधिकरणत्वादि-परम्परासंबन्धमात्रेण तादृशेन लक्षणाक्लृप्तेश्च। एतेन - सादृश्यं न संबन्ध इति गौणी लक्षणातो भिन्ना विशिष्टधीयोग्यस्यैव संबन्धत्वात्। संयोगे सति 'दण्डी देवदत्त:' इतिवत्सत्यपि सादृश्ये 'सिंहवान् देवदत्त:' इति विशिष्टबुद्धेरदर्शनात्- इति निरस्तम्। विशिष्टबुद्ध्यनियामकपरम्परासंबन्धमात्रस्य प्रत्यासत्ति-त्वोपपत्तेस्तावता लक्षणाक्लृप्तेश्च दर्शितत्वात्।

तस्मात् - ससादृश्यगर्भतदन्यसंबन्धनिमित्ततया गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्।

अथ लक्षणा निर्णीयते-

सा च मुख्यार्थ ....। मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वं लक्षणेति।

ननु गौणी न लक्षणा साक्षात् मुख्यार्थसम्बन्धाभावादिति चेत् न, तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाभेद एव। तत्सदृशे उपमेयेऽपि उपमाननिरूपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासम्बन्धोऽस्त्येव। लक्षणायामपि न केवलं साक्षात्सम्बन्धो विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धो वा भवति। यथा नीलो घट इत्यत्र घटनिष्टनैल्यादिप्रत्यक्षाय संयुक्तसमवायादिषु विशिष्टबुद्धययोगित्वम् इत्थं लक्षणायामपि परम्परा प्रत्यासत्तिबोधोपपत्ते:, व्यतिरेक लक्षणायाञ्च तन्निरूपितविरोधा-धिकरणत्वपरम्परासम्बन्धमात्रं दृश्यत एव।

एतेन यदुच्यते सादृश्यं न सम्बन्ध:, लक्षणायाञ्च सम्बन्धो भवति गौण्याञ्च सादृश्यमिति परस्परं भेद:। यतो हि - सम्बन्धे विशिष्टधीयोग्यता भवति यथा दण्डी देवदत्त:, सादृश्ये तु सा न। तथा हि नोच्यते केनापि सिंहवान् देवदत्त इति। इत्थं विशिष्टबुद्धेरदर्शनात् लक्षणातो गौणी भिद्यते ''इति यदुच्यते तन्निरस्तम्। तत्रापि परम्परासम्बन्धस्यैव सत्वात् विशिष्टबुद्धेरनियामको य: परम्परासम्बन्ध: तस्यापि प्रत्यासत्तित्वेन लक्षणोपपत्ति:।

इत्थं लक्षणा द्विविधा गौणी शुद्धा च।

मुख्यार्थ सम्बन्ध से शब्द के प्रतिपादकत्व को लक्षणा कहते है। मुख्यार्थसादृश्य से प्रतिपादन करने वाली गौणी भी लक्षणा का ही भेद है। मुख्यार्थ सदृश में, भी मुख्यार्थ निरूपित सादृश्य का अधिकरणत्व रूप परम्परा सम्बन्ध होता ही है। साक्षात् सम्बन्ध में या विशिष्टबुद्धियोग्य सम्बन्ध में ही लक्षणा हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। परम्परासम्बन्ध का भी प्रत्यासत्तित्व अर्थप्रतिपादन में उपपन्न है, जैसे घट नैल्यादि के प्रत्यक्ष हेतु संयुक्तसमवेतसमवायादि सम्बन्ध जो विशिष्ट बुद्ध्ययोग्य सम्बन्ध है, उसका भी प्रत्यासत्तित्व उपपन्न है। व्यतिरेकलक्षणास्थल में मुख्यार्थनिरूपित विरोधाधिकरणत्वादिपरम्परासम्बन्ध से लक्षणा होती ही है। इससे जो लोग यह कहते है कि 'सादृश्य सम्बन्ध नहीं है इसलिए सम्बन्ध रूप लक्षणा से गौणी भिन्न है क्योंकि सम्बन्ध वही होता है जो विशिष्ट धी योग्य हो, जैसे संयोग सम्बन्ध के रहने पर 'दण्डी देवदत्त' कहा जाता है वैसे सादृश्य को सम्बन्ध मानकर, सादृश्य के रहने पर भी, 'सिंहवान् देवदत्त' नहीं कहा जा सकता। अत: विशिष्ट बुद्धि होने पर ही सम्बन्ध माने, विशिष्ट बुद्धि यदि न होती हो तो उसे लक्षणारूप सम्बन्ध नहीं मानना

चाहिए, यह कहना ठीक नहीं है। विशिष्ट बुद्धि का नियामक न होने पर भी परम्परा सम्बन्ध मात्र से लक्षणा प्रवृत्ति के प्रत्यासत्तित्व की उपपत्ति हो जाती है अतः गौणी को लक्षणा का ही भेद मानना चाहिए। इसलिए सादृश्यगर्भ सम्बन्ध तथा तदितरसम्बन्ध को निमित्त मानकर होने वाली लक्षणा क्रमशः गौणी तथा शुद्धा दो प्रकार की मानी जाती है।

इयं च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं द्विविधा-निरूढलक्षणा फललक्षणा च। रूढितुल्यतया निरूढलक्षणा। विवक्षितार्थान्तर-द्योतनफला फललक्षणा। आद्या यथा -

'लावण्यसागरभुवि प्रणयं विशेषा-
द्दुग्धाम्बुराशिदुहितुस्तव तर्कयामि।
यत्तां बिभर्षि वपुषा निखिलैः प्रतीकै-
रन्यां तु केवलमधोक्षज वक्षसैव॥'

अत्र 'लावण्य' शब्दस्य लवणत्ववाचिनो हृदयंगमत्व-सादृश्यात्सुषमाविशेषे रूढिलक्षणा। एवमालेख्यगजादौ गजादिशब्दस्यापि रूढिलक्षणानुसंधेया। इदं गौण्या उदाहरणम्।

शुद्धा यथा-

'क्वणद्द्विरेफावलिनीलकङ्कणं प्रसार्य शाखाभुजमाम्रवल्लरी।
कृतोपगूढा कलकण्ठकूजितैरनामयं पृच्छति दक्षिणानिलम्॥'

अत्र 'द्विरेफ'शब्दस्य 'द्वौ रेफौ यस्य' इति व्युत्पत्या भ्रमरशब्दवृत्तेस्तद्वाच्ये रूढिलक्षणा। एवं त्वगादिशब्दानां त्वगिन्द्रियादिष्वपि शुद्धा रूढिलक्षणा द्रष्टव्या।

पुनश्च द्विविधा निरूढा फलवती च। रूढितुल्यतया निरूढा। विवक्षितार्थान्तरस्य द्योतनात्मिका फलवती। तत्र -

गौणी निरूढा यथा लावण्यसागरभुवि....................।

हे अधोक्षज, केशव ! दुग्धाम्बुराशेः क्षीरसागरस्य दुहितुः लक्ष्म्याः लावण्यसागरभुवि सौन्दर्यसमुद्रजातायां लक्ष्म्यां (शोभायां) विशेषेण तव प्रणयं तवस्नेहं तर्कयामि। यतो हि वपुषा निखिलैः प्रतीकैरवयवैः तां सौन्दर्यात्मिकां लक्ष्मीं विभर्षि धारयसि, क्षीरोद्भवां लक्ष्मीं तु केवलं वक्षसैव।

अत्र 'लावण्य' शब्दो लवणत्ववाची। तस्य सुषमाविशेषे

हृदयगमत्वरूपसादृश्यसम्बन्धेन लक्षणेति रूढिलक्षणा। एवमेव चित्रलिखितं गजं दृष्ट्वा गजोऽयमिति यः प्रयोगः तत्रापि रूढिलक्षणा मन्तव्या।

शुद्धा निरूढा यथा - क्वणद्द्विरेफावलि ....।

आम्रवल्लरी चूतलता कृतोपगूढा कृतमुपगूढमालिङ्गनं यया सा, बद्धालिङ्गना सती क्वणद्द्विरेफावलिनीलकङ्कणं शब्दायमाना भ्रमरावलिरेव नीलकटकं यस्मिन् तम्, शाखाभुजं, प्रसार्य कलकण्ठकूजितैः मधुरध्वनिपिकध्वनिभिः दक्षिणानिलं मलयानिलं प्रियं, अनामयं कुशलक्षेमं पृच्छति।

अत्र द्विरेफशब्देन 'भ्रमरो' लक्ष्यते। यतो हि भ्रमरपदे, रेफद्वयं वर्तते। अतः 'द्वौ रेफौ यस्य स' इति व्युत्पत्या भ्रमरपदवाच्ये लक्षणा। इयं शुद्धा निरूढा फलाभावात् सादृश्याभावाच्च। एवमेव चर्माद्यपरपर्या याणां त्वगादिशब्दानामपि त्वगिन्द्रिये शुद्धा रूढिः।

इत्थं गौणीनिरूढा शुद्धानिरूढा च दर्शिता।

यह गौणी शुद्धा भी, निरूढा तथा प्रयोजनवती भेद से दो दो प्रकार की होती है, रूढिअभिधा के तुल्य जो हो उसे निरूढा तथा जो विवक्षित अर्थान्तर की प्रतीति कराती हो उसे फलवती या प्रयोजनवती कहते है। उनमें गौणी निरूढा का उदाहरण जैसे - लावण्यसागरभुवि ....।

हे अधोक्षज ! विष्णो ! 'क्षीरसागर से उत्पन्न लक्ष्मी की अपेक्षा लावण्य सागर से उत्पन्न लक्ष्मी (शोभा) में आपका विशेष प्रणय है ऐसी मैं तर्कना करता हूँ। क्योंकि आप शरीर के सभी अङ्गों से लावण्यलक्ष्मी को धारण करते हैं किन्तु क्षीरसागर की लक्ष्मी को केवल वक्षस्थल से।

यहाँ लवणत्ववाची लावण्य शब्द की हृदयङ्गमत्वरूप सादृश्य से शोभा विशेष में रूढिलक्षणा है। इसी प्रकार चित्र में बने हुए गज में गजादि शब्द की रूढि लक्षणा है।

शुद्धारूढि का उदाहरण जैसे - क्वणद्द्विरेफावलि..............।

ध्वनि करती हुई भ्रमर राजि रूपी नीलकङ्कणवाली, शाखा रूपी भुजाको फैलाकर आलिङ्गन करती हुई (आम्रवल्लरी) चूतलता (भानो) कोकिलकूजन रूपी मधुर ध्वनि में, मलयानिल रूपी प्रियतम का कुशल क्षेम पूछ रही हो।

यहाँ 'द्विरेफ' शब्द की भ्रमरार्थ में, 'द्वौरेफौ यस्य स' इस व्युत्पत्ति से प्राप्त द्विरेफत्वरूपसम्बन्ध से, रूढिलक्षणा है। इसी प्रकार त्वग् आदि शब्द की भी त्वगिन्द्रिय में रूढिलक्षणा मानी जाती है। यहाँ शुद्धारूढिलक्षणा है।

(फललक्षणा यथा-)जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा सारोपा साध्यवसाना च। तत्राद्या त्रिविधा शुद्धैव सारोपा साध्यवसाना च शुद्धा गौणी च। इत्येवं सप्तविधा फललक्षणा।

जहल्लक्षणा यथा -

'त्वत्पादपद्मसुषमानुकृतिक्षमाणि
प्राप्तुं प्रवालपदभाञ्जि विभूषणानि।
वल्कावृता धृतजटाः सुरदीर्घिकायां
कल्पद्रुमाः कति गिरीश तपश्चरन्ति॥'

अत्र 'सुरदीर्घिका' पदस्य कल्पद्रुमाधिकरणत्वयोग्ये तत्तीरे लक्षणा। मुख्यार्थस्य तदधिकरणत्वेनान्वयाभावाज्जहल्लक्षणा। कल्पद्रुमाणां तपश्चर्योत्प्रेक्षोपस्कारकं तीरस्यातिशयितपावनत्व-द्योतनं फलम्।

एवं 'गङ्गायां घोषः' इति प्रसिद्धोदाहरणमप्यनुसंधेयम्। तत्र गोस्वामिनः प्रीतये तीरस्याधिकशैत्यद्योतनं फलम्।

व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणाप्रभेद एव। यथा-

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥'

अत्रापकारिण्यन्वयायोग्ये 'उपकृता'दिपदैः स्वार्थविरूद्धं लक्ष्यते। 'त्वयापकारे क्रियमाणेऽपि मयैवं प्रियमेवोच्यते' इति स्वसाधुत्वद्योतनं फलम्।

अजहल्लक्षणा यथा- 'कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयश्च' इति। अत्र 'कुन्ता'दिपदस्य तद्वत्सु पुरुषेषु लक्षणा। कुन्तादेरपि पुरुषसाहित्येन प्रवेशक्रियान्वयादजहल्लक्षणा। तेषां निर्दय-प्रहर्तृत्वादिद्योतनं फलम् ।

ग्रामैकदेशदाहादौ सति 'ग्रामो दग्धः, पुष्पितं वनम्' इत्यादि प्रयोगे 'ग्रामा'दिपदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशे वृत्ते-र्जहदजहल्लक्षणा, दग्धभूयस्त्वादिद्योतनं फलम्।

गौणीफलवती द्विविधा, सारोपा साध्यवसाना च। शुद्धा पञ्च-विधा, जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसाना चेति। इत्थमाद्याभ्यां सह साकल्येन नवविधा। तेषु

शुद्धा जहल्लक्षणा यथा- त्वत्पादपद्म ....।

हे गिरीश ! त्वत्पादपद्मसुषामानुकृतिक्षमाणि, तव पाद एव पद्मं तस्या या सुषमा शोभा तदनुकारसमर्थानि, प्रवालपदभाञ्जि विद्रुमनामानि, नवकिसलयनामानि वा विभूषणानि अलंकारकुलानि प्राप्तुं कति, कियन्तः, धृतजटाः, धृतसटाः, जटिलाः, वल्कावृताः सवल्कलाः, कल्पवृक्षास्तपश्चरन्ति तपस्यन्ति। सुरदीर्घिकायां गङ्गायां तपश्चरन्ति तपस्यन्ति।

अत्र सुरदीर्घिकापदेन तटो लक्ष्यते। गङ्गायां वृक्षाधिकरण-त्वेनान्वयस्यासंभवात् जहल्लक्षणा। कल्पवृक्षाणां तपश्चर्यो-पस्कारकत्वेन तटस्यातिशयितपावनत्वप्रतीतिः फलम्। एवमेव गङ्गायां घोषः इत्यपि बोध्यम्। अत्र गोपालस्य प्रीत्युपस्कारकत्वेन तीरस्या-धिकशैत्यप्रतीतिफलम्।

व्यतिरेकलक्षणाऽपि जहल्लक्षणाभेद एव।

यथा - उपकृतं बहु तत्रेति -

अत्र वक्त्रादिवैशिष्ट्यादपकारिण्यन्वयस्यायोग्यतया 'उपकृतादि पदैः स्वार्थविरूद्धं लक्ष्यत। चेद् धीरो वक्ता तदानीं 'त्वयापकारे कृतेऽपि मयैवं प्रियमेवोच्यते इति स्वसाधुत्वद्योतनं फलम्। चेदधीरो वक्ता तदानीमपकारातिशयो व्यज्यते। इति मन्तव्यम्।

अजहल्लक्षण यथा- कुन्ताः प्रतिशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति इत्यादि। अत्र कुन्तादिपदेन कुन्तादिधारिणः पुरुषा लक्ष्यन्ते। कुन्तादेरपि पुरूषैः सह प्रवेशनक्रियायामन्वयाद् अजहल्लक्षणा। क्रूरातिशयप्रतीतिः फलम्। जहदजहल्लक्षणा यथा ग्रामैकदेशदाहादौ, ग्रामो दग्धः। 'पुष्पितवनमिति।' ग्रामादिपदस्य, स्वार्थैकदेशत्यागेन स्वार्थैकदेश-वृत्तित्वेन चात्र जहदजहल्लक्षणा। दग्धभूयस्त्वद्योतनं ग्रामस्य बहुतरदाग्धत्वप्रतीतिः फलम्।

फलवती या प्रयोजनवती, शुद्धा लक्षणा, जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से पाँच प्रकार की होती है।

प्रयोजनवती गौणी लक्षणा, शुद्धा तथा साध्यवसाना भेद से दो

प्रकार की होती है। इस प्रकार कुल सात भेद प्रयोजनवती के होते हैं।
जहल्लक्षणा का उदाहरण जैसे त्वत्पादपद्मसुषमेति ....।
हे गिरीश ! आप के चरणकमल की सुषमा का अनुकरण करने में समर्थ जो प्रवाल (नवकिसलय तथा विद्रुम) नाम के विभूषण उन्हें प्राप्त करने के लिए कितने - कितने कल्पवृक्ष, वल्कल तथा जटा धारण कर गङ्गा जी में तपस्या कर रहे हैं।
यहाँ कल्पद्रुम के आश्रय की सिद्धि के लिए सुरदीर्घिका पद का उसके तट में लक्षणा है। यहाँ मुख्यार्थ जलप्रवाह का अधिकरणत्वेन वृक्ष में अन्वय न हो पाने के कारण, सर्वथा अपने अर्थ को छोड़कर, तट को लक्षित करने से, जहल्लक्षणा है। तथा इसका प्रयोजन तीर का अतिशयित पावनत्व है जो कल्पद्रुमों की तपश्चर्या का उपस्कारक है।
इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस प्रसिद्ध उदाहरण को भी समझना चाहिए। यहाँ तीर का अति शैत्यादि जो प्रयोजन, वह गोस्वामी की प्रीति का उपस्कारक है।
व्यतिरेकलक्षणा भी जहल्लक्षणा का एक भेद ही है जैसा कि- उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ....।
अर्थ स्पष्ट है। यहाँ उपकृतादि पद अपकारी में अन्वय के योग्य न होने से स्वार्थ विरुद्ध अपकृतादि को लक्षित करते है। तथा धीरवक्ता के वैशिष्ट्य से, उसका साधुत्वद्योतन प्रयोजन है। 'तुम्हारे द्वारा अपकार करने पर भी मेरे द्वारा प्रिय ही कहा जा रहा है' यह साधुत्व है।
अजहल्लक्षणा का उदाहरण जैसे- कुन्ताः प्रविशन्ति। यष्टयः प्रविशन्ति। यहाँ कुन्तादि की कुन्तधारी पुरुष में लक्षणा है। पुरुष के साथ कुन्तादि का भी प्रवेशन क्रिया में अन्वय हो जाने के कारण अजहल्लक्षणा है। तथा उन पुरूषो का निर्दय प्रहार क्रौर्यातिशयादि प्रयोजन है। जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है, 'ग्रामो दग्धः' पुषितं वनं' आदि। यहाँ ग्राम के किसी एक भाग के दाह होने पर गाँव दग्ध हो गया यह कहना ग्रामादि पद की अपने ही एक भाग को छोड़कर एक भाग के ग्रहण करने से जहदजहल्लक्षणा है दग्धभूयस्त्व इसका प्रयोजन है।

सारोपा यथा -

> **'नाथ त्वदीयमकलङ्कमिमं मुखेन्दु-**
> **मापीय तृप्यति सदा वसुधा यतस्ते।**
> **तेनैव किं नवसुधारसगोचरोऽभू-**
> **दिन्दुः कलङ्कमलिनीकृतमध्यभागः।।'**

अत्र 'इन्दु'शब्दस्य मुखे लावण्यादिसादृश्याद्गौण-

सारोपलक्षणा। ताद्रूप्यप्रतीतिः फलम्। एवं 'गौर्वाहीकः, मुखं कमलम्' इत्यादिव्यासेऽपि गौणसारोपलक्षणा द्रष्टव्या।
गौणसाध्यवसानलक्षणा यथा-

> 'नाभेरभूत्तव चतुर्भुज वान्तरिक्षं
> यन्नाभिरेव यदुनेतरियं ततोऽभूत्।
> अन्योन्यसंश्रयपराहतिदूषितं य-
> दाह श्रुतिस्तदविमृश्य किमर्थतत्वम्।।'

अत्र 'अन्तरिक्ष' पदस्य भगवदवलग्ने सूक्ष्मत्वसादृश्याद्गौणसाध्यवसानलक्षणा। सर्वथैवाभेदप्रतिपत्तिः फलम्। विषयस्य विषयिभेदेनानपह्नुतेन तद्रूपोपरक्तताप्रतीतिस्ताद्रूप्यप्रतिपत्तिः, विषयस्य विषयिणैवाभेदप्रतीतिः सर्वथैवाभेदप्रतिपत्तिः, इति सारोपसाध्यवसायलक्षणाफलयोर्भेदः। विषयविषयिवाचकयोर्द्वयोरपि निर्देशे आरोपः, विषयिपदमात्रस्य विषयलाक्षणिकतया निर्देशोऽध्यवसायः, इत्यारोपाध्यवसाययोर्भेदः।
ननु-सारोपलक्षणोदाहरणे 'मुखेन्दुः' इत्यादौ 'इन्द्वादि' पदस्य मुखादौ न मुखत्वादिना लक्षणा, 'मुख'पदस्यापि सत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेः। नापीन्दुगतलावण्यादिगुणेन अन्यगुणस्यान्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्। नापि मुखगतलावण्यादिगुणेन, मुख्यार्थसंबन्धरहितगुणमुखेन लक्षणायोगात्। मैवम्। मुखचन्द्रोभयानुगतलावण्यसामान्यादिमुखेन लक्षणोपगमे दोषद्वयस्याप्यसंस्पर्शात्। इदमेवाभिसंधायोक्तं वृद्धैः - 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति।
शुद्धासारोपा शुद्धासाध्यवसानेति भेदद्वयं, गौणीसारोपसाध्यवसानयोरनन्तरमुदाह्रिते पूर्व गौणीसारोपामुदाहरति - यथा- नाथ त्वदीय ....।
हे नाथ , तव निष्कलङ्कं मुखचन्द्रं इमं आपीय = सतृष्णभावेन मुखचन्द्रगतंरसमापीय, वसुधा सदा तृप्यति यतः इन्दुः नवसुधारसाश्रयोऽपि वसुधारसगोचरः न, वसुधाया रसस्य विषयो नाभूत्, तेनैव कलङ्कमलिनीकृतमध्यभागः, लाञ्छितान्तर्मध्यः सकलङ्को वा अस्ति

किम्।

मुखेन्दुमित्यत्र इन्दुशब्दस्य मुखे लक्षणा, लावण्यसादृश्याद् गौणी, मुखस्य विषयस्याप्युपादानात् सारोपा। मुखचन्द्रयो-स्ताद्रूप्यप्रतीतिः प्रयोजनम्। एवमेव गौर्वाहीकः मुखं कमलमित्यादि व्यासस्थलेऽपि गौणी सारोपा बोद्धव्या।

गौणसाध्यवसानाया उदाहरणम् यथा- नाभेरभूत्तव चतुर्भुज... .....। हे चतुर्भुज ! यदुनेतः ! तव नाभेः, अन्तरिक्षं अभूत्, इयं नाभिरेव वा ततोऽन्तरिक्षादभूत् इति यदन्योन्यसंश्रयदोषदूषितं वचः, तद् अविमृश्यैव श्रुतिःआह (अतःब्रूहि) अर्थतत्वं किम्।

अत्र 'अन्तरिक्ष' पदस्य अवलग्ने, भगवतः कटौ मध्यभागे, वा लक्षणा, सूक्ष्मत्वधर्मसादृश्याज् जातेति गौणी। अत्र विषयस्य कटिभागस्यानुपादानात् साध्यवसानेति गौणीसाध्यवसानलक्षणा। इयं लक्षणा प्रयोजनवती अतः सारोपसाध्यवसानयोर्लक्षणयोः क्रमेण ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदप्रतीतिश्च फले स्तः। विषयस्य प्रकृतस्य विषयिभेदेन-अप्रकृतभेदेन, अनपह्नुतेन-शब्दतो निर्देशेन, तद्रूपो-परक्तता प्रतीतिः विषयिरूपोपरागप्रतीतिरिति ताद्रूप्यप्रतीतिः सारोपायामस्ति। साध्यवसानायां, विषयस्य प्रकृतस्य विषयिणैवा-प्रकृतेनैव निगरणात् साक्षात्शब्दतोऽनुपादानात् सर्वथैवाभेदप्रतीतिः फलमस्ति।

आरोपाध्यवसानयोरयमेव भेदः यदारोपायां विषयविषयिणोः प्रकृताप्रकृतयोरुभयोरपि शब्दतो निर्देशो भवति, साध्यवसानायां तु विषयिण एव अप्रकृतपदमात्रस्य प्रकृतलाक्षणिकतया निर्देशो भवति।

मुखेन्दुरित्यत्र सारोपायां इन्दुपदस्य मुखे या लक्षणा क्रियते सा केन रूपेण, मुखत्वादिना, वा इन्दुगतलावण्यादिना वा मुखगत-लावण्यादिना अथवा मुखचन्द्रोभयानुगतलावण्यादिसामान्येन। तत्र नाद्यः मुखत्वादिनां, मुखपदस्यापि उपादानात् मुखत्वस्याभिधयैवोप-लब्धत्वात् पुनः मुखत्वादिनां मुखादौ कियमाणायां लक्षणायां पौनरुक्त्यापत्तिः। न द्वितीयः इन्दुगतलावण्यादिना, अन्यस्य अन्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्। न तृतीया, मुखगतलावण्यादिना, मुख्यार्थ (इन्द्वर्थ) सम्बन्धरहितगुणादिना लक्षणायोगात्। चतुर्थस्तूचित एव उभयानुगतसामन्यगुणेन लक्षणोपगमे सकलदोषस्यासंस्पर्शात्।

इदमेवाभिसंधाय प्राचीनैरुक्तम्।

'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति।

लक्ष्यमाणोभयानुगतगुणैः सम्बन्धात् गौणी लक्षणा भवतीतिभावः।

गौणी सारोपा का उदाहरण जैसे - नाथत्वदीयमकलङ्क ....।

हे नाथ ! आपके अकलङ्क इस मुखचन्द्र को सतृष्णभाव से पान कर वसुधा तृप्त नहीं हो पा रही है जिसके कारण चन्द्र, वसुधा के रसपान का विषय नही हो पाया। (तथा नव सुधारस का विषय वन गया। न + वसुधा तथा नवसुधा ऐसा विग्रह करना चाहिए।) इससे ही वह अपने मध्यभाग को कलङ्क से मलिनीकृतकर लिया है क्या ?

यहाँ लावण्य आदि सादृश्य से 'इन्दु' शब्द की मुख में गौणसारोपलक्षणा है। मुख तथा इन्दु दोनों शब्दतः कहे गये हैं इसलिए सारोपा है। यहाँ मुख तथा चन्द्र की ताद्रूप्यप्रतीति प्रयोजन है। यह तो समास का उदाहरण है व्यास अर्थात् समासरहित के उदाहरण गौर्वाहीकः मुखं कमलम् आदि को जानना चाहिए।

गौणसाध्यवसानलक्षणा का उदाहरण जैसे नाभेरभूत्तव ....।

हे चतुर्भुज ! यदुनाथ ! तुम्हारी नाभि से अन्तरिक्ष (कटि) हुआ है। (यद्वा) अथवा अन्तरिक्ष से नाभि ही हुई है यह जो अन्योन्याश्रयदोषदूषित विकल्प, उसका विना विमर्श किये ही श्रुति ने कुछ कुछ कहा है। आप बतलाए इसमें वस्तुस्थिति क्या है।

यहाँ सूक्ष्मत्वादि सादृश्यवश अन्तरिक्ष पद की कटिप्रदेश में गौणी लक्षणा है, कटिप्रदेश का शब्दतः कथन न होने से साध्यवसाना है। कटिभाग एवं अन्तरिक्ष में सर्वथा अभेदप्रतीति फल है। जब प्रकृत का अलग से अप्रकृत के साथ शब्दतः कथन हो तो तद्रूप का उपराग प्रतीत होने से ताद्रूप्य फल होता है। जब अप्रकृत (विषयी) से ही प्रकृत का (कथन) बोध होता हो तो एक पदोपात्त होने से दोनो की अभेद प्रतीति होती है अतः यहाँ सर्वथा अभेद प्रतीति फल है। यही सारोपा तथा साध्यवसाना के फलों में भेद है।

अब यह प्रश्न होता है कि मुखेन्दु आदि में इन्दु आदि पद की मुख आदि मे जो सारोपा लक्षणा है वह किस सम्बन्ध से है। मुखत्वादि से या इन्दुगतलावण्यादिगुण से या मुखगत लावण्यादि गुण से या मुख चन्द्रोभयगत सामान्यलावण्यादि गुण से। मुखत्वादि धर्म से इन्दुपद की मुख में लक्षणा करते है तो पुनरुक्तत्व दोष होगा क्योकि शब्दतः कहे गये 'मुख' पद से मुखत्व धर्म वाच्य ही है। यदि यह कहें कि इन्दुगतलावण्य आदिगुण से मुख में लक्षणा होती है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि दूसरे के गुण का दूसरे में प्रवृत्तिनिमित्ततया सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि मुखगत

लावण्यादि गुण से कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ जो इन्द्वर्थ, तत् सम्बद्ध गुणादि से लक्षणा होती है मुख्यार्थसम्बन्धरहितगुणादि सम्बन्ध से नहीं। अत: उभयगत सामान्य लावण्यादि गुण से ही इन्दु आदि पद की मुख आदि में लक्षणा करनी चाहिए। ऐसा करने से न तो पौनरूक्त्य दोष होगा न ही अन्य का अन्य में प्रवृत्ति निमितत्व का योग ही होगा। इसी का अभिसंधान करके प्राचीनों ने कहा है कि उभयानुगत लक्ष्यमाण गुणों के सम्बन्ध से गौणी लक्षणा होती है।

शुद्धसारोपलक्षणा यथा -

'आपादमाचिकुरभारमशेषमङ्ग-
मानन्दसारमरविन्ददृशामसीमम्।
अन्तर्मम स्फुरतु संततमन्तरात्म-
न्नम्भोजलोचन तव श्रितहस्तिशैलम्॥'

अत्र भगवदङ्गेष्वानन्दकारित्वेन 'आनन्द'पदस्य सारोपलक्षणा। आनन्दकरणे इतरवैलक्षण्यद्योतनं फलम्। आनन्दकारिणि विषयनिगरणेन 'आनन्दोऽयम्' इति प्रयोगे साध्यवसायलक्षणा। आनन्दाव्यभिचारद्योतनं फलम्। एवं शुद्धा पञ्चविधा, गौणी द्विविधा, इति सप्तविधा फललक्षणा।

शुद्धसारोपलक्षणाया उदाहरणम् यथा- आपादमाचिकुरभार.... .... इति।

हे अन्तरात्मन् ! अम्भोजलोचन ! आपादम् = आचरणपर्यन्तम् आचिकुरभारम् = आकेशपर्यन्तं, अरविन्ददृशामसीमम् = सुन्दरीणामप्रमेयं श्रितहस्तिशैलम्, समाश्रितहस्तिपर्वतं अशेषं सम्पूर्ण अङ्गम् प्रतीकमपघनं वा आनन्दसारम् आनन्दतत्वमस्ति। सन्ततं = निरन्तरं ममान्त: = मम मनसि स्फुरतु = विराजताम्।

अत्र 'अङ्गमानन्दसारम्' इत्यत्र शुद्धा सारोपा लक्षणा भगवदङ्गेषु आनन्दकारित्वेन सादृश्येतरहेतुहेतुमद्भावेन वाऽनान्दसारस्यारोपात्। आनन्दकरणे भगवदङ्गेतरापेक्षया भगवदङ्गस्य वैलक्षण्यप्रतीति: फलम्।

शुद्धसाध्यवसायलक्षणाया उदाहरणम् अङ्गपदमनिर्देश्य, 'अयमानन्द:' इति प्रयोगे भवति। आनन्दकारि अङ्गाद्यमनुपादाय विषयनिगरणेन आनन्दकारिणि अङ्गादौ आनन्दपदस्य प्रयोगात् साध्यवसायलक्षणा। आनन्दाव्यभिचारद्योतनं फलम्। अव्यभिचारे-

णाङ्गादिषु आनन्दद्योतनं फलमस्ति। इत्थं शुद्धा पञ्चविधा गौणी द्विविधा, इति सप्तविधा, रूढि च द्विविधेति साकल्येन नवविधा लक्षणा निरूपिता।

शुद्धा सारोपा का उदाहरण जैसे- आपादमाचिकुर ....।

हे अम्भोजलोचन ! चरण से लेकर केशपर्यन्त, सभी अङ्ग जो सुन्दरियों के लिए अपरिमेय दर्शनीय है तथा आनन्दसार है एवं हस्तिपर्वत पर विराजमान है वे निरन्तर मेरे अन्त:करण में विलसित होते रहे।

भगवान् के अङ्ग आनन्द ही है। यहाँ आनन्दकारित्व सम्बन्ध से अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से आनन्द पद की अङ्गो में लक्षणा है। भगवान् को अङ्गों से भिन्न दूसरा कोई पदार्थ ऐसा आनन्दप्रद नहीं है इस प्रकार का अङ्गों के आनन्दकरण में इतरपदार्थों से वैलक्षण्य फल है। शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण होगा 'आनन्दोऽयम्'। विषय या प्रकृत का निगरण कर केवल आनन्द पद के प्रयोग से आनन्द पद का आनन्दकारी प्रकृत अङ्ग में लक्षणा होगी। इसे साध्यवसाना कहते है। अव्यभिचरित आनन्द का द्योतन फल है। इस प्रकार शुद्धा प्रयोजनवती पाँच प्रकार की तथा गौणी प्रयोजनवती दो प्रकार की होने से सात प्रकार की फललक्षणा होती है।

ननु - गौण्यामपि जहदजहल्लक्षणाभेदौ संभवत:, 'मुखं कमलम्, गौर्वाहीक:' इत्यादौ जहल्लक्षणा तावत्स्फुटैव। अजहल्लक्षणापि गोवाहीकोभयविषये 'गाव एते समानीयन्ताम्' इत्यादौ दृश्यते। अत: कथं द्विविधैव गौणी। उच्यते- मुख्यार्थसादृश्येन लक्षणा गौणी। न च तत्रैव तत्सादृश्यमस्ति, येन मुख्येऽपि गौणी वृत्ति: स्यात्। शुद्धा त्वजहल्लक्षणा, 'कुन्ता: प्रविशन्ति' इत्यादौ विशेषणवाचिनो विशिष्टे संभवति विशिष्टविशेषणयोरेकदेश्येकदेशभावरूपसंबन्धसत्वात्। अतो 'गङ्गायां जलं घोषश्च तिष्ठति' इत्यत्रेवेति न गौण्या जहदजहल्लक्षणाभेदसंभव:। तस्मात्सप्तैव लक्षणाभेदा इति। इत्थमयं चिरंतनै: प्रदर्शितो लक्षणाविभाग इति।

ननु शुद्धायामेव केवले जहदजहल्लक्षणे न भवत: अपितु गौण्यामपि सम्भवत:। यतोहि मुखं कमलम् 'गौर्वाहीक:' इत्यादौ कमलगवादिपदं स्वार्थं परित्यज्य मुखवाहीकादिं लक्षयति। अजहल्लक्षणा तु तदानीं सम्भवति यदा गोवाहीकोभय-

कर्मकानयनरूपवाक्यार्थाय 'गावो एते समानीयन्ताम्' इत्यादिप्रयोग: स्यात्। अन्यत्र 'गाव:' पदं, गां वाहीकञ्चोभयं गृहणाति।

यतो हि मुख्यार्थसादृश्येन लक्षणा गौणी भवति। मुखं कमलम् इत्यत्र कमलनिष्ठगुणवदभिन्नं मुखमिति बोधे कमलार्थसादृश्येन मुखं लक्ष्यते। कमलार्थसादृश्यं कमलार्थएव न संभवति, स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन्नसंभवात्, यदि तत्रापि तत्सादृश्यस्य सत्ता स्यात् तदानीं मुख्येऽपि गौणी वृत्ति: स्यात्, अतो जहल्लक्षणोच्यतामिति चेन्न, साधारणगुणाश्रयत्वेन गौणी, मुख्यार्थलक्ष्यार्थोभयनिष्ठत्वात् साधारणगुणस्य साधारणगुणरूपसादृश्यस्य मुख्यार्थेऽपि सत्वात्, न जहल्लक्षणा। मुख्यर्थस्याभिधया लक्ष्यार्थस्य च लक्षणयेति तत्तदर्थस्य कृत उभयोर्वृत्त्योर्विषयत्वम्। अत: मुखं कमलम्, गाव एते समानीयन्तामित्युभयत्राभिधालक्षणाभ्यामेवार्थद्वयप्रतिपादनम्। यथा गङ्गायां जलं घोषश्च तिष्ठति इत्यत्र। शुद्धायास्त्वजहल्लक्षणायां 'कुन्ता: प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तपुरुषयोरेकदेश्येकदेशभावसम्बन्धात् विशेषणवाचिनो कुन्तपदस्य विशिष्टे कुन्तधारिपुरुषे संभवति जहदजहल्लक्षणा। इत्थं चिरंतनै: प्रदर्शिता भेदा सप्तैव लक्षणाया: निर्दिष्टा:।

यदि यह कहें कि गौणी में भी जहदजहल्लक्षणा भेद होते है। मुखं कमलम्, गौर्वाहीक:, इत्यादि स्थलो में मुख्यार्थकमलत्वसादृश्य से मुख में लक्षणा होती है मुख्यार्थकमलत्व सादृश्य मुख्यार्थ में ही रह नहीं सकता, क्योंकि अपने में ही अपना सादृश्य हो नहीं सकता, अत: परार्थ मुखादि में स्वार्थकमलत्वसादृश्य को कमलपद अर्पित कर देता है।

अजहल्लक्षणा भी तब सम्भव है जब गौ तथा वाहीक दोनो के लिए 'गाव:' पद का प्रयोग कर दें। यहाँ 'गाव:' पद अपने मुख्यार्थ गो पदार्थ को लिए हुए, वाहीक को भी ग्रहण कर रहा है अत: 'गाव एते समानीयन्ताम्' में जहदजहल्लक्षणा भी सम्भव है। जैसे कुन्ता: प्रविशन्ति' में कुन्त अपने को लिए हुए, कुन्तधारी पुरूष को लक्षित करता है। इसका समाधान करते हुए कहते है कि शुद्धा अजहल्लक्षणा 'कुन्ता: प्रविशन्ति' में तो सम्भव है क्यों कि विशेषणवाची कुन्त का विशिष्ट कुन्तधारी में एकदेशि–एकदेश भाव सम्बन्ध होने से जहदजहल्लक्षणा हो जाती है। 'गाव एते समानीयन्ताम्' में ऐसा सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अत: गाव: पद में व्यवस्थित गौ, एवं वाहीक दोनों अर्थो के लिए अभिधा तथा लक्षणा दो वृत्तियों को मानना होगा। गौ की अभिधा गवार्थ में तथा गौ की

लक्षणा वाहीकार्थ में यहाँ है। अत: जहदजहल्लक्षण का विषय यहाँ नहीं है।

'मुखं कमलम्' में भी मुखत्वोपरक्तकमलत्वसादृश्य में लक्षणा होने से सर्वथा लक्ष्यार्थ में स्वसमर्पण नहीं है क्यों कि कमलत्व अभिधा से ही है। अत: जहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं है –

अत्रेदं प्रतिभाति- शुद्धासु साध्यवसायलक्षणाभेदकथनमयुक्तम्, परार्थ स्वसमर्पणस्याविशेषेण तस्य जहल्लक्षणानतिरेकात्। न हि तदविशेषेऽपि सारोपलक्षणायां विषयवाचकसामानाधिकरण्यकृतवैचित्र्यान्तरमस्ति, येन तद्वदेव जहल्लक्षणात: पृथगुदाह्रियेत।

ननु- 'कार्यकारणभावसंबन्धेन वृत्ति: इत्यत एव पृथक्त्वमस्तु, कार्यकारणभावातिरिक्तेन गङ्गातीरादिगतसंयोगादिसंबन्धेन वृत्तौ जहल्लक्षणा' इत्यसंकरोपपत्ते:। मैवम्। 'राजकीय: पुरुषो राजा, इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्र:, अतक्षायं तक्षा, अग्रहस्तोऽयं हस्त:' इति स्वस्वामिभावतादर्थ्यतात्कर्म्यावयवावयविभावेष्वपि कार्यकारणभाव इव सारोपाध्यवसायलक्षणयोराकरग्रन्थेषूदाहरणादाश्रयाश्रयिभावसंबन्धेऽप्यलंकारसुधानिधावुदाहरणाच्च वैचित्र्यान्तराभावेऽपि संबन्ध- भेदमात्रेण विधान्तरोपगमे संबन्धभेदान्तरमवलम्ब्यापि विधान्तरो- पवर्णनस्य प्रत्याख्यातुमशक्यतया सप्तविधत्वनियमासामञ्जस्यप्रसङ्गाच्च।

ननु - साध्यवसायलक्षणोदाहरणेष्व भेदाभिव्यक्तिरस्ति, 'अयमानन्द:, अयं राजा' इत्यादावानन्दराजाद्यभेदाभिव्यक्तिपूर्वकमेवानन्दाव्यभिचारित्वानुल्लङ्घ्यशासनत्वादिफलप्रतीते:, अतो व्यङ्ग्यवैचित्र्येण भेदोऽस्तु इति चेत्, न। जहल्लक्षणोदाहरणेऽपि तीरे प्रवाहाभेदाभिव्यक्तिपूर्वकमेव तत्र तद्गतातिशयितशैत्यपावनत्वादिफलप्रतीते:। तीरे प्रवाहतादात्म्यप्रतीत्यभावे तत्र प्रवाहगतातिशयितशैत्याद: प्रत्ययासंभवात्। न हि तीरे गङ्गासंबन्धप्रयुक्तं तद्गतस्वाभाविकशैत्यादिद्योतनमेव लक्षणाफलम्, येन गङ्गादिसंबन्धितीरत्वेन लक्षणयैव तल्लभ्यते

इति नाभेदाभिव्यक्तिरङ्गीक्रियते, सत्यपि मुख्ये गङ्गातीरादिपदे स्वायत्ते च शब्दप्रयोगे मुख्यप्रयोगादपि लभ्यस्य लक्षणा-फलत्वायोगात्। काव्यसरणौ - 'लक्षणायां काव्यशोभातिश-याधायकतयाप्यधिकं स्तोतुकामस्तस्य प्रवाहतादात्म्यप्रतिपत्त्या तद्गतातिशयितपावनत्वद्योतनाय तस्मिन्गङ्गापदं प्रयुङ्क्ते' इति दर्शनाच्च। अतो जहल्लक्षणायामप्यभेदाभिव्यक्तिरविशिष्टा। उक्तं च काव्यप्रकाशिकायाम्–'तटादीनां गङ्गादिशब्दप्रतिपादने तत्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः' इति। रत्नाकरेणाप्युक्तम्- 'स्रोतस्तीरयोरेकशब्दबोध्यत्वेन तादात्म्य-प्रतीतेः स्रोतोधर्माः शैत्यपावनत्वादयस्तीरे प्रतीयन्त इति प्रयोजनसिद्धिः' इति। अतः साध्यवसायलक्षणायाः फलकृतोऽ-न्यकृतो वा न जहल्लक्षणातो भेदः संभवति इति न तदुदाहरणपार्थक्यं युक्तम्।

गौण्यां जहदजहल्लक्षणे तु न सम्भवतः, किन्तु इदं प्रतिभाति यत् शुद्धासु साध्यवसायलक्षणाया अन्तर्भावो जहल्लहणायामेव करणीयम्, यतो हि परार्थे स्वसमर्पणरूपधर्मस्यात्रापि तथैव दर्शनं भवति। न च, परार्थे स्वसमर्पणरूपधर्मस्य सत्वेऽपि सारोपायां विषयवाचकपदसामानाधिकरण्येन यद् वैचित्र्यं दृश्यते तद्वद् विषयवाचकपदानुपादानेनात्रापि। येन सारोपावदस्यापिपृथक्तयोपादानं क्रियेत, अतो जहल्लक्षणातो वैचित्र्यान्तराननुभवात् तत पृथग्नो-दाहर्तव्यम् इति।

यद्येवमुच्येत, यत् संयोगादिसम्बन्धमादाय जहल्लक्षणा प्रसरति साध्यवसाना, तु कार्यकारणभावसम्बन्धमादाय, अतः सम्बन्धभेदेन तयोः पृथक्त्वाद् न संकरोपपत्तिरिति ? तदपि न वक्तुं शक्यते शुद्धासु वैचित्र्यान्तराभावेऽपि केवलं सम्बन्धभेदमादाय यदि पृथग्भेदगणना क्रियेत तदानीं शुद्धाया एकस्मिन्नेव भेदे 'राजकीयः पुरूषो राजा, 'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः' इत्यादौ नानाभेदगणनप्रसङ्गोपपत्तिः स्याात्, यतोहि स्व-स्वामिभाव,-तादर्थ्य-तात्कर्म्य- अवयवायवि-सम्बन्धभेदनामुपलब्धिः शुद्धायामेव भवति। न च केवलमेते एव भेदा अपि तु अलंकारसुधानिध्याद्यनुसारेण आश्रयाश्रयिभावादि-

सम्बन्धा अपि परिकल्पयितुं शक्यन्ते अतः सम्बन्धभेदमात्रेण विधान्तरोपगमो न युक्तः, सप्तविधनियमस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गात्।

प्रथमे सारोपावत् पृथगविषयानुपादानेन् द्वितीये सम्बन्धमात्रभेदात् पृथक्त्वगणननिरासेन जहल्लक्षणासाध्यवसानयोरैक्यं प्रदर्श्य तृतीयप्रघट्टे अभेदाभिव्यक्तिमादायाप्यैक्यं प्रदर्शयन्नाह -

अयमानन्दः, अयं राजा इत्यादि साध्यवसायोदाहरणे विषये राजाद्यभेदाभिव्यक्तिं स्वीकृत्यैवानुल्लङ्घनीयशासनत्वानन्दा-व्यभिचारित्वफलप्रतीतिर्भवति इदं वैचित्र्यमादाय जहल्लक्षणातोऽस्या भेद इत्यपि वक्तुं न शक्यते। जहल्लक्षणायामपि गङ्गायां घोषः इत्यादौ तीरे प्रवाहाभेदाभिव्यक्तिमादायैव तीरगतातिशयितशैत्य-पावनत्वादिफलप्रतीतिर्भवति, तत्तादात्म्यप्रतीत्यभावे तद्गतातिशयित-शैत्यादेस्तीरे प्रत्ययासम्भवात्। यदि नाभेदाभिव्यक्तिरङ्गीक्रियते, अपितु गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ लक्षणा क्रियते तथा च तीरगतस्वाभाविक-शैत्यादिद्योतनेमव फलं स्वीक्रियत्ते, तदानीं गङ्गातीरे घोष' इति मुख्यया वृत्याऽपि प्रयोगात् तत्सर्वं भवितुं शक्येत लक्षणाफलत्वायोगे लक्षणाप्रयोगस्य वैयर्थ्यात्। काव्यसरणौ लक्षणया काव्यशोभातिशय आधीयते, अतः गोस्वामिस्तोतुकामः कश्चन, तीरस्य प्रवाहतादात्म्य-प्रतिपत्यैवातिशयितपावनत्वप्रतीतिरिति तदर्थमेव तीरे गङ्गापदं प्रयुङ्क्ते। इत्थमत्राप्यभेदाभिव्यक्तिरिष्टा। उक्तञ्च काव्यप्रकाशे-तटादीनां गङ्गादि-इति। रत्नाकरेणाप्युक्तम् स्रोतस्तीरयोरिति। अतः साध्यवसानायाः फलकृतोऽन्यकृतो वा कश्यनापि भेदो जहल्लक्षणातो न सम्भवति। अत उभयोः पृथक्तया प्रतिपादनं न युक्तम्।

इस प्रकार गौणी में जहदजहल्लक्षणा तो सम्भव नहीं है किन्तु यह प्रतीत होता है कि शुद्धा भेदों में साध्यवसाना भेद नहीं मानना चाहिए, बल्कि इसका जहल्लक्षणा में ही अन्तर्भावकर लेना चाहिए, क्यों कि पदार्थ में स्वसमर्पण रूप धर्म यहाँ समान रूप में परिलक्षित हो रहा है। सारोपलक्षणा में तो विषयवाचक पद का भी सामानाधिकरण्य से निर्दिष्ट रहता है अतः उससे होने वाले चमत्कारान्तर की भी प्रतीति हो सकती है किन्तु साध्यवसाना में तो जहल्लक्षणा के समान ही केवल विषयी का ही उपादान होता है। अतः जहल्लक्षणा से कुछ भी विशेष इसमें न होने के कारण, इसे अलग से नहीं मानना चाहिए।

यदि यह कहें कि शुद्धा साध्यवसाना में कार्यकारणभाव सम्बन्ध होता है जहल्लक्षणामें उससे अतिरिक्त संयोगादि सम्बन्ध होता है अतः

सम्बन्ध भेद से दोनों में भेद मान लेना चाहिए, तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि शुद्धा साध्यवसाना के ही कहीं स्व–स्वामिभाव कही तादर्थ्य कहीं तात्कर्म्य कहीं अवयावयवि आदि सम्बन्ध, तथा अलंकार सुधानिधिकारादि के मत में आश्रयाश्रमिभाव सम्बन्ध भी, कार्यकारणभाव के समान दिखलाये गये है, तो यहाँ भी इनके अनेक भेद होने लगेंगे। इसी प्रकार और भेदों से भी शुद्धा साध्यवसाना हो सकती है इस प्रकार के भेदो के चलते लक्षणा के कुल सात भेद है यह नहीं कह सकेंगें।

यदि यह कहें कि जहल्लक्षणा एवं साध्यवसाना में व्यङ्ग्य के वैचित्र्य से भेद है क्योंकि साध्यवसाना में अभेदाभिव्यक्ति है, जैसे 'अयं आनन्दः' अयंराजा इत्यादि स्थल में आनन्द एवं राजादि के अभेद की अभिव्यक्ति होने पर ही अव्यभिचरित आनन्द एवं अनुल्लङ्घनीयशासनादि फल की प्रतीति होगी, तो भी नहीं कह सकते, क्यों कि जहल्लक्षणा के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' में भी तट में प्रवाह के अभेद की अभिव्यक्ति को लेकर ही तट गत अतिशयित पावनत्व शैत्यादि फल की प्रतीति होती है। यदि प्रवाह के तादात्म्य की प्रतीति तट में न हो तो प्रवाहगत शैत्यपावनत्वादि की तट में प्रतीति होना सम्भव नही है। बिना इस प्रतीति के तट में अतशयितशैत्यादि रूप फल भी नही होगा।

यदि यह कहें कि गङ्गापद से केवल गङ्गासम्बन्ध मात्र प्रतीत होता है तथा तट गत स्वाभाविक शैत्य पावनत्वादि प्रतीति ही लक्षणा का फल है यह स्वाभाविक शैत्यादि, ही लक्षणा से, गङ्गासम्बन्धी तीर की प्रतीति से होगी, अभेदाभिव्यक्ति को नहीं मानना चाहिए, तो यहाँ यह समझना चाहिए कि स्वाधीन अभिधावृत्ति से जब गङ्गातीर आदि पद का प्रयोग कर सकते थे, इसी मुख्यप्रयोग से ही तटगत स्वाभाविक शैत्यादि की प्रतीति हो सकती थी फिर लक्षणा करने का क्या फल।

काव्य शोभा के अतिशय की आधायकता लक्षणा में होने से कोई स्तोता, स्तुतिकरने का इच्छुक, प्रवाहतादात्म्य से होने वाले अतिशयित शैत्यपावनत्व के द्योतन के लिए ही तट अर्थ में गङ्गा पद का प्रयोग करता है। यही सिद्धान्त है। इस प्रकार जहल्लक्षणा में भी अभेदाभिव्यक्ति समान रूप से है। काव्यप्रकाश में कहा गया है कि – तटादि का गङ्गादिशब्द से कथन करने पर तट में गङ्गात्वकी प्रतिपत्ति होती है तथा गङ्गात्वप्रतिपत्ति होने पर ही प्रतिपादन करने के लिए अभिलषित शैत्यादि प्रयोजन का संप्रत्यय होता है। रत्नाकर ने भी कहा है कि स्रोत तथा तीर का एकमात्र स्रोत शब्द से बोध्य होने पर दोनों में तादात्म्यप्रतीति होती है इस तादात्म्यप्रतीति से स्रोत के धर्म जो शैत्यपावनत्वादि है वे तीर में प्रतीत होते है यही प्रयोजन की सिद्धि है। इस प्रकार साध्यवसाय लक्षणा का जहल्लक्षणा से फलकृत या अन्यकृत कोई भी भेदं नहीं सम्भव है

अतः दोनों के उदाहरण में पार्थक्य करना युक्त नहीं है।

तथा सारोपलक्षणोदाहरणे उपमानोपमेयानुगतसाधारण-धर्ममुखेन लक्षणा इत्ययुक्तम्। तथासति यत्र साधारणधर्मस्यापि पदान्तरेणोपादानं तत्र पौनरुक्त्यापत्तेः।

यथा –

'ताराभिरामपरिणाहलसत्सिताभ्रं
तापिच्छमेचकमुरःशरदन्तरिक्षम्।
प्राप्यैव देव तव कौस्तुभपूर्णचन्द्रः
पूर्णां बिभर्ति पुरुषोत्तम कान्तिरेखाम्।।'

अत्र हि वक्षोऽन्तरिक्षयोः साधारणः परिणाहित्वमेचकत्वादि-धर्मोऽपि पृथगुपात्त एव। 'उपात्तधर्मातिरिक्तधर्ममुखेन लक्षणास्तु' इति चेत्, न। उपात्तमेचकत्वादिव्यक्त्यतिरिक्तसामान्यधर्मा-स्फुरणेऽपि सहृदयानां परिपूर्णवाक्यार्थप्रतीतिदर्शनाद्द्रव्यत्वादि-सामान्यधर्मस्य कवितानङ्गत्वात्। अन्ततः कवयितुरप्येतादृश-स्थलेषूपात्तधर्मातिरिक्तधर्मगर्भीकाराभावाच्च।

ननु- इह मा भूत्सारोपलक्षणा। 'उर एव शरदन्तरिक्षम्' इति मयूरव्यंसकादिसमासोपगमे हि सा भवति। किन्तु-'उरः शरदन्तरिक्षमिव' इत्युपमितसमासोऽस्तु। तत्र च विग्रहवाक्यस्थो लुप्त इवकारः, सादृश्यं प्रतिपादयतीति 'नोपमानवाचकस्योपमेये लक्षणा' इत्यालंकारिकाणामभ्युपगमः। तत्र तैर्लुप्तोपमाङ्गीकारात्, इति न कश्चिद्दोषः, इति चेत्, न। मेचकत्वादिसामान्यस्य शब्दोपात्ततयोपमितसमासासंभवात्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सामान्याप्रयोगे एव तत्समासानुशासनात्। आलंकारिकैरपि- 'सामान्यप्रयोगे सत्युपमाबाधकसत्वा-त्सारोपलक्षणामूलको रूपकालंकारः न तूपमालंकारः', इत्यभ्युपगमात्। उपमितसमासे धर्मवाचकलुप्तोपमालंकारस्यैव तैरुदाहरणाच्च। सामान्यधर्मप्रयोगेऽप्युपमितसमासाङ्गीकारे हि केवलवाचकलुप्तापि तत्रोदाह्रियेत।

नन्वेवं साधारणधर्मप्रयोगे सादृश्यमुखेन लक्षणास्तु तद्वाचकस्य यथा- इव- वाऽऽदेरप्रयोगेण पौनरूक्त्याप्रसङ्गात्। तत्प्रयोगे उपमानवाचकस्य सादृश्यप्रतियोगिभूत- स्ववाच्य-परतयोपमेयलक्षणाया अवाच्यत्वात् इति चेत्, न। तथासति सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमालंकारस्य प्राप्त्या 'सारोप-लक्षणायां रूपकादिरलंकार:, नोपमा' इत्यलंकारविभागा-सामञ्जस्यप्रसङ्गात्। न हि सादृश्यस्य वाच्यत्व एवोपमा, 'कमलसुहृन्मुखम्' इत्यादौ 'सुहृदादि' पदेन लक्षणायाम-प्युपमासंप्रतिपत्ते:,। अपि च- 'पादाम्बुजम्' इत्यादौ व्याघ्रादे: समासेनोपमाया:, मयूरव्यंसकादिसमासेन रूपकस्य च संभवेन सर्वत्रानवधारणे प्राप्ते यत्र,-

'पादाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जु
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकाया:।'

इत्यादौ पादे संभवन्मञ्जीरयोगादिकं निबध्यते, तत्र तदानु-गुण्यात्पूर्वपदार्थप्रधानेन व्याघ्रादिसमासेनोपमालंकार: यत्र तु,-

'यस्यानिशं दिविषदश्चरणारविन्द
मुत्तसयन्त्यमितभक्तिभरावनम्रा:।।'

इत्यादावरविन्दकार्यमुत्तंसनादिकं निबध्यते, तत्र तदानुगुण्या-दुत्तरपदार्थप्रधानेन मयूरव्यंसकादिसमासेन रूपकालंकार:, इति व्यवस्था सर्वैरपि प्रतिपाद्यते। न च-इयं व्यवस्था 'चरणारविन्दम्' इत्यादिरुपकस्थलेषु 'अरविन्दादि' पदानामरविन्दत्वा द्याकारमपहायारुणाणिमादिसाधारणधर्ममुखेन तन्निबन्धन-सादृश्यमुखेन वा चरणादिलक्षकत्वे युज्यते। तथा सत्युत्तर-पदार्थस्यारुण्यसादृश्यगुणस्य प्राधान्यादियोगेन मयूरव्यंसकादि-समासाश्रयणेऽपि व्याघ्रादिसमासाश्रयण इव पूर्वपदार्थचरणस्यैव प्राधान्यापत्योत्तंसनानुगुण्यस्य विरहतौल्यापत्ते:। गुणजात्यो-र्जातिप्राधान्यस्य नीलोत्पलादौ व्यवस्थिते:। उत्तरपदार्थस्य प्राधान्येऽप्यरविन्दजातेरिवारुण्य-सादृश्यादिगुणस्योत्तंसना-

नुगुणत्वाभावाच्च। तस्मात्- 'सारोपलक्षणोदाहरणेषु साधारण-धर्मादिमुखेन लक्षणा-' इत्ययुक्तम्। तथा-'ताद्रूप्यप्रतीतिरत्र फलम्-' इत्यप्ययुक्तम्।

इत्थं शुद्धासाध्यवसानाजहल्लक्षणयोरैक्यं प्रतिपाद्य गौणीसारोपा स्थले उभयानुगतसाधारणधर्ममुखेन लक्षणेति न युक्तमिति निदर्शयितुं साधारणधर्मस्य पौनरुक्त्यापत्तिदोष: उपमित-समासाश्रयणापत्तौ दोष:, इवादिपदाप्रयोगे लाक्षणिकसादृश्यादिनाऽपि स एव दोष: धर्म्यनुगुणकार्यस्य सादृश्यगुणादिधर्ममुखेनासंपाद्यत्वादि त्यपि दोष इत्यादिना साधारणधर्मादिमुखेन न लक्षणा इति प्रतिपिपादयिषन्नाह -

उभयानुगतसाधारणधर्ममुखेन लक्षणेतिस्वीकारे पदान्तरेणोपात्त साधारणधर्मस्थले पौनरुक्त्यापत्ति:। यथा ताराभिरामपरिणाह .....।

ताराभिरामपरिणाहाभ्यां लसत्श्वेताकाशं तापिच्छश्यामलं शरदन्तरिक्षं उर: प्राप्यैव कौस्तुभमणिरूपी पूर्णचन्द्र:, पूर्णां कान्तिरेखां बिभर्ति। अत्र ताराभिरामानुपात्तमुक्तावल्योर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव:। परिणाहित्वमेचकत्वादिधर्म: साधारण:। वक्षोऽन्तरिक्षयोरुभयो-र्विषयविषयिणोरुपादानात् गौणीसारोपा। अत्रोमयानुगतपरिणाहित्वादि-साधारणधर्मस्य वाच्यत्वात् पुनर्लक्ष्यत्वे पुनरुक्ति:। पौनरुक्त्यपरिहाराय चेदुपात्तधर्मातिरिक्तधर्माणां लक्ष्यत्वं स्वीक्रियेत तदानीं तदतिरिक्त-धर्माणामनवभासे सारोपलक्षणैव न घटेत। चेद् हठादचमत्कारिधर्मं कमप्यादाय चेष्टते तदानीं कवित्वाभावप्रसक्ति:। यथा अत्रैव वक्षोऽन्तरिक्षयोर्मेचकत्वादिधर्मं विहाय द्रव्यत्वादिधर्मेणारोपात्। एतादृशस्थलेषु सुपर्वालङ्कृतं भारतं नाकमण्डलं, इत्यादावपि उपात्त-धर्मातिरिक्तधर्मस्य लक्ष्यत्वेन गर्भीकाराभावात्।

सारोपलक्षणां विहायोपमितसमाश्रयणेऽपि न निस्तार:। यतोहि सारोपलक्षणायां मयूरव्यंसकादिना समास:, उपमितसमासे 'उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रेण समासो भवति। तथाहि उर एव शरदन्तरिक्षम् इति विग्रहे मयूरव्यंसकादयश्चेत्यस्य प्रवृत्ति:, उर: शरदन्तरिक्षमिव इति विग्रहे उपामितसमासस्य प्रवृत्ति: विग्रहवाक्यस्थ: लुप्त इवकार: सादृश्यमभिधत्ते। उपमानवाचकस्य इवकारस्य सत्वे नोपमेये लक्षणेति सिद्धान्त:। लुप्तोपमाङ्गीकारे

उभयानुगतसाधर्म्यस्यालक्ष्यत्वे न पुनरुक्ति दोषः इति न वक्तुं शक्यते।

अत्र परिणाहित्वमेचकत्वादिसाधर्म्यस्य शब्दोपात्तत्वेन नोपमित-समासस्यप्रसक्तिः, 'सामान्याप्रयोगे' इत्युक्तत्वात्। प्राचीनोऽपि सामान्यप्रयोगस्थले' उपमितमित्यादिनोपमां न स्वीकरोति अपितु रूपकमेव। उपमितसमासे धर्मवाचकयोरुभयोलोपःस्वीक्रियते न तु केवलं वाचकस्य। अतोऽत्र चेत् उपमितसमासः स्वीक्रियेत, तदानीं सामान्यधर्मस्य प्रयोगात् केवलं वाचकलुप्तैवोपमा स्यादिति दोष उदेष्यति।

अस्तु मा भवतु उपमितसमासः, रूपकसमास एव साधारणधर्म प्रयोगस्थले अनुगतसाधारणधर्ममुखेनेति विहाय सादृश्यमुखेन लक्षणा भवतु, उरःशरदन्तरिक्षमित्यत्र सादृश्यवाचका यथा-इव-वादयः न सन्ति अतः सादृश्यमुखेन लक्षणायां नास्ति पौनरुक्त्यप्रसङ्गः। यत्र इवादयः प्रयुज्यन्ते तत्र उपमानवाचकस्य इवादेः सादृश्यप्रतियोगि भूतस्योपमानमात्रस्य वाच्यतया लक्ष्योपमेयस्यावाच्यत्वात् क्व पुनरुक्तिरिति, उपमेयलक्षणायां अवाच्यत्वमिति। एतद् यदुच्यते तन्न-सादृश्ये लक्षणाकृतेऽपि सादृश्यरूपशब्दोपात्तत्वेनोपमालंकार-प्राप्तिः, 'सारोपलक्षणायां रूपकादिरलंकारो नोपमेति वाक्यात् तयोर्विभागस्यासामञ्जस्यमापतेत्। न हि सादृश्यस्य वाच्यत्व एवोपमा, लक्ष्यत्वेऽपि सा स्यादेव, यथा कमलसुहृन्मुखमित्यादौ सुहृदादिपदेन सादृश्यं लक्ष्यते। सादृश्यस्य वाच्यत्वलक्ष्यत्वाभ्यामुपमास्वीकारे 'पादाम्बुजम् भवतु मे' इति पद्ये उपमितं व्याघ्रादिभि... रिति सूत्रेण समासादुपमालंकारः, मयूरव्यंसकादिसूत्राद्रूपकालंकारः इत्यनयोरन-वधारणायां सत्यां कथमुपमारूपकयोनिर्णयः स्यात्। 'पादाम्बुजमि'त्यत्र 'अम्बिकाया मञ्जीरशिञ्जितमनोहरं पादाम्बुजं वो विजयाय भवतु' इति वाक्यार्थे मञ्जीरयोगः पाद एव संभवतीति तदानुकूल्येन पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासः तत्प्रयुक्तोपमालंकारो भवति। 'यस्यानिशमि'ति पद्ये अपरिमितभक्तिभाजो देवा यस्य चरणारविन्द-मनिशं उत्तंसयन्ति' इति वाक्यार्थे उत्तंसनक्रियायामरविन्दस्यो-पयोगित्वात् चरणारविन्दे'त्यत्रोत्तरपदप्रधानतया मयूरव्यंसकादिसमासः तत्प्रयुक्तश्च रूपकालंकारो भवति, इति व्यवस्था सर्वैः स्वीक्रियते,

साऽवश्यं विघटेत सादृश्यलक्षणायाम्। तथा च रूपके अरविन्दादिपदानामरविन्दत्वाद्याकारं विहाय आरुण्यादिसाधारण-धर्ममुखेन तन्मूलसादृश्यमुखेन वा चरणादिलक्षकत्वं न युज्यते। यतोहि उत्तरपदप्राधान्याद् आरुण्यसादृश्ययोरुभयोरपिगुणयोः प्राधान्ये मयूरव्यंसकादिसमाश्रयणेऽपि उपमितसमासाश्रयणवत् पूर्व-पदार्थचरणस्यैव प्राधान्यापत्तिः, तथा च चरणस्योतंसना-ननुकूलत्वेन वाक्यार्थबोधविरहापत्तिः। नीलोत्पलमित्यत्र गुणजात्यो-र्जातिप्राधान्ये भवति व्यवस्था, किन्तूत्तरपदप्राधान्ये जातौ गुणे वा कथमुत्तंसनादिकार्यं घटते। अतः सारोपलक्षणायां साधारणधर्मादिमुखेन लक्षणा इत्ययुक्तम्।

सारोपलक्षणा में उपमेय तथा उपमान दोनों में अनुगत जो साधारण धर्म, उसकी प्रधानता या उसके माध्यम से लक्षणा करना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस उदाहरण में यदि साधारण धर्म का भी किसी अन्यपद से उपादान हो, तो पुनरुक्त दोष की प्राप्ति होने लगेगी। जैसे-

ताराभिरामपरिणाहलसत् ....।

हे पुरुषोत्तम ! ताराओं से मनोहर विशाल शोभमान श्वेताकाश वाले, शरदन्तरिक्ष (उरः पक्ष म), अत्यन्तमनोहर विशाल तथा कर्पूरादि अङ्गरागवाले है। मयूरपिच्छ के समान कर्बुरित ऐसे वक्षस्थलरूपी शरदन्तरिक्ष को प्राप्त कर आपका कौस्तुभरूपी पूर्णचन्द्र। पूर्ण कान्तिरेखा को धारण कर रहा है।

यहाँ 'वक्षः अन्तरिक्षम्' इस सारोपा के उदाहरण में परिणाहित्व मेचकत्वादि साधारण धर्म भी शब्दतः उपात्त किए गये है। यदि यह कहें कि उपात्त धर्म के अतिरिक्त, धर्ममुख से लक्षणा करेगें तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ उपात्त परिणाहित्वमेचकत्वादिधर्म से अतिरिक्त, सामान्यधर्म स्फुरित न होने पर भी, सहृदयों को परिपूर्ण वाक्यार्थ की प्रतीति हो रही है। यदि इससे अतिरिक्त द्रव्यत्वादिसाधारणधर्म ले भी लें, तो कवित्व का अङ्ग नहीं होगा। अन्ततः ऐसे स्थलों में, कवि का भी, उपात्त धर्म के अतिरिक्त धर्म, के बोध का, कोई अभिप्राय भी नहीं है।

यदि यह कहें कि यहाँ सारोपालक्षणा न मानें, क्योंकि धर्म का शब्दतः कंथन कर दिया गया है सारोपा तो 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र के उपगम से होती है जिसका विग्रह इस प्रकार करना होगा 'उर एव शरदन्तरिक्षम्' इति। यदि हम यहाँ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' सूत्र का उपगम कर 'उर' शरदन्तरिक्षमिव' ऐसा विग्रह करें, तो क्या हानि होगी। क्योंकि इसमें विग्रहवाक्यस्थ 'इव' लुप्त होकर सादृश्य का

प्रतिपादन कर देगा फिर उपमानवाचक का उपमेय में लक्षणा करने का प्रश्न नहीं उठेगा। आलङ्कारिकों ने भी यहाँ लुप्तोपमा मानी है इसमें कोई दोष नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ भी मेचकत्वादि साधारण धर्म जब शब्दतः कह दिए गये है तो उपमित समास नहीं हो सकता क्यों कि ''सामान्याप्रयोगे'' सूत्र में कहा गया है। इसीलिए सामान्यधर्म के प्रयोग स्थल में, आलङ्कारिकों ने उपमा न मानकर, सारोपालक्षणामूलक रूपकालंकार ही माना है। उपमित समास में धर्मवाचकरूप द्विलुप्तोपमा को ही माना जाता है यदि सामान्य धर्म के प्रयोग होने पर भी उपमित समास माना जाता तो केवल वाचकरूप एकलुप्ता का ही उदाहरण होता।

यदि यह कहें कि शब्दतः धर्म का जहाँ उपादान हो वहाँ साधारण-धर्ममुख से लक्षणा न मानकर सादृश्यमुख से लक्षणा मानी जाय। सादृश्य के वाचक, यथा, इव 'वा' आदि, पद का प्रयोग न होने से पौनरूक्त्य दोष नहीं होगा। साधारण धर्म के प्रयोग होने पर भी सादृश्यप्रतियोगिभूत उपमानवाचक, उपमानवाच्यपरक होने से, उपमेयलक्षणा, वाच्य का विषय भी नहीं होगी, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा करने पर लक्षणा से सादृश्य जब शब्दोपात्त होगा, तो उपमालंकार की प्राप्ति होगी, जब कि सारोपलक्षणा में रूपकालंकार होता है उपमा नहीं। इस प्रकार उपमा रूपक का विभाग असमञ्जस में पड़ जायेगा। यह भी नहीं कह सकते कि सादृश्य जब अभिधया, शब्दोपात्त हो तभी सादृश्य के वाच्यत्व होने पर उपमा होगी, लक्षणया शब्दोपात्त होने पर नहीं; क्यों कि कमलसुहृन्मुखम्' में सुहृद् पद की सादृश्य में लक्षणा है तथा यहाँ उपमा है। और एक विशेष बात यह होगी कि 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय 'पद्य में यदि उपमितं-व्याघ्रादिभि से समास होगा तो उपमा होगी और यही जब मयूरव्यंसकादि सूत्र से होगा तो रूपक होगा इस प्रकार उपमा रूपक का निर्धारण करना कठिन हो जायेगा। पादाम्बुजम् में, मञ्जीरशिञ्जितादि विशेषण चरण के अनुकूल है अम्बुज के नही। अतः इस अनुकूलता के लिए पूर्वपद प्रधान उपमित समास से उपमालंकार होता है। और जहाँ यस्यानिशं दिविष ....। अर्थात् अपरिमितभक्तिभाव से विनम्र देवगण, निरन्तर जिसके चरणकमल को उत्तंस (कर्णाभूषण) बनाते है। यहाँ कर्णभूषण के अनुगुण अरविन्द है न कि चरण, अतः उत्तरपदप्रधान, मयूरव्यंसकादि से समास होकर रूपकालंकार होता है। इस व्यवस्था का आदर सभी आलङ्कारिक करते है। यह व्यवस्था तब नहीं हो पायेगी जब चरणारविन्द' इत्यादि रूपकस्थल में अरविन्दादि पदों का, अरविन्दत्वादि रूप हटा कर, अरूणिमा आदि साधारणधर्ममुख से या तन्मूलकसादृश्यमुख से उसे उपमेय का लक्षक मानें। ऐसा मानने पर उत्तर पदार्थ जो आरूण्य

या सादृश्य गुण है उनकी प्रधानता होने पर, मयूरव्यंसकादि सूत्र का समाश्रयण करने पर भी उपमितं सूत्र, के समाश्रयण के समान पूर्वपदार्थ चरण की ही प्रधानता होने लगेगी, तथा उपमितसमास से जो उत्तंसनादि के अननुकूल स्थिति हो रही थी, वैसी ही यहाँ होने से उत्तंसनादिविरह ही होगा। 'नीलोत्पलादि' में गुण जाति दोनों की स्थिति में जातिप्राधान्य की व्यवस्था मान्य है। किन्तु यहाँ उत्तरपदार्थ के प्राधान्य से अरविन्द जाति की प्रधानता या आरूण्यादि सादृश्यादि गुण की प्रधानता की स्थिति में उत्तंसन की अनुकूलता का अभाव ही रहेगा इसलिए सारोपलक्षणा स्थल में साधारण धर्म या सादृश्य मुख से लक्षणा करना अयुक्त है।

तथा च ताद्रूप्यप्रतीतिरत्र फलमित्ययुक्तम् सामान्यधर्ममुखेन सादृश्यमुखेन वा लक्षणोपगमे ताद्रूप्याभिव्यक्त्ययोगात् तथा हि-'कान्तिमन्मुखम्', 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्यादिरर्थः संपद्यते। न चैतावता ताद्रूप्याभिव्यक्तिः, 'कान्तिमन्मुखम्' इत्यादिप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न च-'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ स्रोतस्तीरयोरभेदाध्यवसायवन्मुखचन्द्रयोरेकशब्दबोध्यतया केवलशब्दशक्तिमूल-व्यञ्जनव्यापारेण ताद्रूप्याध्यवसाय इति नातिप्रसङ्गः-इति वाच्यम्, तदा मुखकान्तिमतोरेव ताद्रूप्याभिव्यक्तेः संभवेन 'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते' इत्यादावानुभाविकस्य मुखत्वोपरक्तचन्द्रताद्रूप्यप्रत्ययस्याक्लिष्टसमर्थनासंभवात्। तथा 'मुखं कमलम्' इत्यादि व्यासेऽपि सर्वत्रविषयविषयिपदयोः सामानधिकरण्ये सारोपलक्षणा इत्यप्ययुक्तम्।

'विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भवमीम प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः।।'

इत्यत्र 'हंसादि'शब्दानां वर्ण्ये राजनि प्रत्यासत्तिरूपमुख्य-सादृश्याप्रतीत्या लक्षणासंभवात्। तथा हि-विदुषां मानसं हृदयमेव मानसं सर इत्यादि श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायलभ्यमानस-वासित्वादिसाधरणधर्मनिबन्धनमेव तत्र सादृश्यं वाच्यम्। तदन्यमुखकमलादिवत्प्रसिद्धसादृश्यस्याभावात्। न च-तेन

सादृश्येन लक्षणा संभवति, तल्लम्भकस्य श्लेषस्य रूपकोत्थाप्यतया रूपकापेक्षलक्षणादशायां तस्य बुद्धिपथानारोहात्। न च–श्लेषस्यैव प्राथम्यं किं न स्यात्–इति वाच्यम्, रूपकं विना कवेरर्थद्वयविवक्षायामिह गमकाभावेन श्लेषानिवृत्तेः। अभिधायाः प्रकरणनियम्यत्वपक्षे प्राचीनाभिमते रूपकात्प्राक्प्रकरणसंबन्धरहितसारोपलक्षणार्थान्तराभिधानस्यैवासंभवात्।

'रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषं तज्ज्ञापयेद्यदि।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते॥'

इति श्लेषरूपकयोर्विभागं व्यवस्थापितवता चक्रवर्तिनाप्यस्मिन्नुदाहरणे रूपकोपवर्णनेनात्र श्लेषपाश्चात्यत्वस्य स्फुटीकरणाच्चेति। अत्रेदं तत्वम्- 'विद्वन्मानसहंस-' इत्यादौ 'हंसादि'पदानां वर्ण्ये राजनि लक्षणा नाङ्गीकर्तव्या, सामानाधिकरण्येन वर्ण्यस्य राज्ञः प्रसिद्धहंसजातीयादिभिरभेदस्य वाक्यार्थविधयैव प्रतीत्युपपत्तेः। न च-एवमभेदप्रत्ययसंभवेऽपि ताद्रूप्यप्रत्ययो न लक्षणां विना सिध्येत्। स एव च विषयविषयिपदसामानाधिकरण्यस्थले सर्वत्र विवक्षितः इति वाच्यम्, तत्र मानाभावात्। 'ऊर्ध्वं विरञ्चिभवनात्तव नाभिपद्मात्' इत्यादौ विषयविषयिपदसामानाधिकरण्येऽप्येवकारसाक्षात्पदाभ्यामुरःस्थले प्रसिद्धपरमपदाभेद-विवक्षया एव स्फुटीकरणाच्च।

यत्तु सारोपायां ताद्रूप्यप्रतीतिः फलमित्युक्तं तदप्ययुक्तम्। ताद्रूप्यप्रतीतौ नोभयानुगतसाधारणधर्ममुखेन लक्षणा न तु सादृश्यमुखेन लक्षणा घटते। मुखचन्द्रः इत्यत्र चन्द्रपदस्य सामान्यधर्ममुखेन लक्षणायां कान्तिमन्मुखमित्येव प्रतीतिः। सादृश्यमुखेन लक्षणायां 'सादृश्यवन्' सदृशं' वामुखं इति प्रतीतिर्भवति। उभयथाऽपि ताद्रूप्यप्रतीति र्न संपद्यते। चेद् धर्मरूपकान्तिलक्षणाऽनन्तरं संसर्गमर्यादया स्वाश्रय-सम्बन्धेन कान्तिमन्मुखमिति प्रतीतौ चन्द्रताद्रूप्यमिष्यते तर्हि कान्तिमन्मुखमिति शब्दतः प्रतिपादनेनापि तत्ताद्रूप्यं प्रतीयेत।

चेदेकपदोपात्तयोरर्थयोरभेदाध्यवसायरीत्या, एकेनैव चन्द्रपदेना

गतयोर्मुखचन्द्रयोरर्थयोरभेदाध्यवसायात् ताद्रूप्यप्रतीतिः शब्दशक्तिमूल-व्यञ्जनव्यापारेण संभवति, अतः अभिधोक्तकान्तिमन्मुखमित्यादौ नातिप्रसक्तिरिति उक्तावपि न निस्तारः, यतो हि चन्द्रपदेन चन्द्रकान्तिर्गुणो लक्ष्यते अभेदसंसर्गेणान्वयाय कान्तिमत् इति संसर्गमर्यादया लभ्यते, तथा च कान्तिमदभिन्नमुखमिति बोधे कान्तिमत्मुखयोरेव ताद्रूप्यप्रतीतिः न तु चन्द्रमुखयोः। अतः 'त्वक्त्रेद्रौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते' इत्यादौ 'वक्त्रेन्दौ' इत्यत्र मुखत्वोपरक्तचन्द्रताद्रूप्यप्रत्ययः सर्वानुभाविकः क्लिष्टसमर्थनं विना असम्भवः। क्लिष्टसमर्थनमिति परम्परया समर्थनम्, 'स्वसम्बन्ध्य-भेदात्स्वस्याप्यभेदः' इति परम्परासम्बन्धः। एकोपदोपात्तचन्द्रसदृशयो-रभेदावगमात् सदृशमुखयोः संसर्गतोऽभेदात् चन्द्रमुखयोरप्यभेदावगमः इति भावः। अतः क्लिष्टसमर्थनया ताद्रूप्यप्रतीतिः। मुखं कमलम् इति व्यासस्थलेऽपि एतादृशी एव स्थितिः।

ननु यत्र यत्र विषयविषयिपदयोः सामानाधिकरण्यं तत्र सर्वत्र सादृश्यमुखेन क्रियमाणा सारोपलक्षणा इत्यपि न वक्तुं युक्तम्। यत्र प्रतिद्धतया सादृश्यस्याप्रतीतिस्तत्र लक्षणासंभवात्। यथा विद्वन्मानसहंस इत्यत्र ....।

अत्र प्रकृतं राजा, अप्रकृतञ्च हंसादिः। सादृश्यमुखेन क्रियमाणायां सारोपलक्षणायां प्रत्यासत्तिरूपं यत् सादृश्यं तस्यैवात्र हंसनृपयोरप्रतीत्या कथं सा सिद्ध्येत् ? ननु मुखकमलादिवत्प्रसिद्धसादृश्यस्याभावेऽपि विद्वन्मानसहंस इत्यादौ विदुषां मानसं चित्तमेव मानसं मानससरः इति श्लेषभित्तिकाऽभेदाध्यवसायेन मानसवासित्वरूपः समानधर्मः, अस्यापि मूलमिति वक्तुं सुकरम्। किन्तु येन सादृश्येन लक्षणा संभवति तत्सादृश्यलम्भकः यः श्लेषः स रूपकोत्थाप्यः अतो रूपकापेक्षसारोपलक्षणादशायां, श्लेषो बुद्धिपथमेव नारोहति कथं सादृश्यप्रतिपत्तिः सारोपलक्षणायां हेतुः। न च सादृश्यनिष्पादकः श्लेष एव रूपकात् पूर्व इति वक्तुं शक्यते युक्तिविरोधात्। यतो हि यावत् रूपकं न बुद्धिपथमारोहेत् तावत् विद्धन्मानसेति कवेरर्थद्वयविवक्षायां गमकं किमपि नास्ति। गमकाभावे श्लेषानिवृत्तेः। रूपकालंकार एव प्रकृतम्, अभिधया प्रकृतार्थो नियम्यते अतः, यावत् प्रकृतं रूपकं न बुद्धावारोहेत् तावद् अप्रकृतस्य

सारोपलक्षणार्थान्तरस्य श्लेषस्याभिधानस्येवासंभवात्। श्लेषरूपकयो र्भेदं व्यवस्थापितवता चक्रवर्तिनाऽपि रूपकापेक्षया श्लेषस्य पाश्चात्य-त्वमेव स्फुटीकृतम् यथा -

रूपके पूर्वसंसिद्धं श्लेषं तज्ज्ञापयेद् यदि।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेषइष्यते।।

पूर्वसिद्धमेव रूपकं श्लेषं निष्पादयेत् इति भावः।

वस्तुतोऽत्रैवं ज्ञातव्यम् - हंसादिनृपयोरभेदस्य सामानाधिकरण्येनैव वाक्यार्थविधया, (संसर्गेणेति) सम्पद्यते अत्र हंसादिपदानां प्रकृते राजनि लक्षणा न कर्तव्या। ननु संसर्गतोऽभेदप्रत्ययसंभवेऽपि ताद्रूप्यप्रत्ययाय लक्षणाऽङ्गीकर्तव्यैव, यतोहि ताद्रूप्यप्रत्यय एव विषयनिषयिसामानाधिकरण्यस्थले सर्वत्र विवक्षित इति न वक्तव्यम्, सामानाधिकरण्येप्यभेदविवक्षैव स्फुटीभवति न ताद्रूप्यविवक्षा। यतो हि ऊर्ध्वविरञ्चिभवनात् तव नाभिपद्मात् .... इति पद्ये उरःपरमपदयोः विषयविषयिणोः सामानाधिरण्येन निर्दिष्टयोराप पद्यान्तर्गतोपात्त- 'एव - साक्षात्' पदाभ्यामभेदविवक्षैव स्फुटीभवति न ताद्रूप्यम्। ननु ताद्रूप्यं विहायाभेदविवक्षा यद्यत्र स्वीक्रियेत तदानीं विषय्य भेदात्मिकातिशयोक्तिरेव कथं न मन्येत, कथञ्च ताद्रूप्यरूपकं मन्यते, यतोहि विषय्यभेदेऽतिशयोक्तिः, ताद्रूप्ये रूपकमिति व्यवस्था प्राचीनैर्दत्ता।

'सारोपा में ताद्रूप्यप्रतीति फल है' यह भी कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि सामान्यधर्म मुख से या सादृश्य मुख से लक्षणा मानने पर ताद्रूप्य की अभिव्यक्ति का योग ही नहीं हो सकता। क्योंकि उससे 'कान्तिमत् मुखम्' चन्द्रसदृशं मुखम्' अर्थात् कान्तिमान् मुख है यह धर्ममुख से, तथा चन्द्रसदृश मुख है यह सादृश्य मुख से, लक्षणा होने पर प्राप्त होगा। इन दोनों में ताद्रूप्य की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है। अन्यथा 'कान्तिमत् मुखम् आदि ऐसे शब्द प्रयोग से भी ताद्रूप्य की अभिव्यक्ति होती।

यदि यह कहें कि जैसे 'गङ्गायां घोषः में स्रोत तथा तीर का अभेदा-ध्यवसाय होता है वैसे ही एक शब्द चन्द्र से बोध्य मुख तथा चन्द्र का शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना से ताद्रूप्य का अध्यवसाय हो सकता है इसमें कहाँ अतिव्याप्ति होगी ? तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि धर्ममुख से लक्षणाा होने पर मुख एवं कान्तिमत् की ही ताद्रूप्याभिव्यक्ति सम्भव है न कि चन्द्र एवं मुख की। जब कि मुख चन्द्र का ताद्रूप्य अपेक्षित है जैसा

कि "वक्त्रेन्दौ तव"। अर्थात् "तुम्हारे मुखचन्द्र के रहने पर जो यह दूसरा चन्द्र उदित हो रहा है'। यहाँ, अनुभव में स्पष्ट हो ने वाला मुखत्व से उपरञ्जित चन्द्रताद्रूप्य, का प्रत्यय होने में अक्लिष्ट समर्थन असम्भव है। इसी प्रकार 'मुख कमलम्' आदि सामसरहित स्थल में जानना चाहिए।

विषयविषयिवाचक पद के सामानाधिकरण्य स्थल में सादृश्यमुख वाली सारोपलक्षणा सर्वत्र होगी ही, यह भी कहना उचित नहीं है। जैसे विद्वन्मानहंस ....।

हे वरवीर ! प्रभो ! सैकड़ों ब्राह्म वर्षों तक आप भरपूर साम्राज्य करें, जो आप, विद्वानों के चित्त रूप मानसरोवर के हंस है शत्रुओं के लक्ष्मी के संकोच रूपी कमल विकास के सूर्य है, दुर्ग का अनाश्रयणरूपी दुर्गा के (मार्गण) अन्वेषण, के लिए शंकर है। सङ्ग्राम का स्वीकार रूपी समिधा के स्वीकार के लिए वह्नि है। सत्य में प्रीति रूप सती में अप्रीति के लिए दक्ष है, विजय की प्रथम सत्ता रूपी अर्जुन, के पूर्वज भीम है।

यहाँ विद्वानों का मानस (चित्त) ही मानसरोवर, रिपु की लक्ष्मी का संकोच ही कमलों का असंकोच, दुर्ग का अमार्गण (अनन्वेषण) ही दुर्गाका मार्गण है सङ्ग्राम का स्वीकार ही समिधा का स्वीकार है सत्य में प्रीति ही सती में अप्रीति है तथा विजय प्राग्भाव ही अर्जुन का 'अग्रज है इन श्लिष्ट पदों से उत्थाप्य दो अर्थों के अभेद के कारण श्लिष्ट साधर्म्य है। रूपकालंकार है।

यहाँ प्रकृत राजा उपमेय, तथा हंस आदि उपमान है हंस की राजा में लक्षणा करने के लिए मुख्य सादृश्य रूप जो हेतु स्वीकृत है उसकी यहाँ प्रतीति ही नहीं हो रही है। अतः सादृश्यमुख से अप्रतीत सादृश्य वाले स्थलों में सारोपा कैसे होगी। यदि यह कहें कि यहाँ भी सादृश्य है क्योंकि "विद्वन्मानसत्व" विद्वानों का हृदय ही मान सरोवर है इस प्रकार श्लेषभित्तिका द्वारा अभेदाध्यवसाय से प्राप्य मानसवासित्व रूप साधारण धर्म ही इस सारोपा का कारण है तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि 'मुखं कमलम्' की तरह राजा हंसादि में कोई प्रसिद्ध सादृश्य नहीं है। मानसवासित्वरूपी सादृश्य से लक्षणा नहीं कर सकते क्योंकि सादृश्य का प्रापक जो श्लेष वह रूपक से उत्थाप्य है अतः जब तक रूपक मालुम नहीं हो जाता तब तक श्लेष बुद्धिपथं में ही नहीं आएगा। यदि यह कहें कि श्लेष की ही प्रथम प्रतीति क्यों नहीं हो जाती तो ऐसा न ही कह सकते, क्योंकि रूपक के विना श्लेषज अर्थद्वय की विवक्षा में कोई गमक न होने से श्लेष की निवृत्ति ही नहीं हो सकती है। प्राचीनानुसार प्राकरणिक अर्थ में अभिधा का नियमन रूप सिद्धान्त के कारण, प्राकरणिक रूपक के पूर्व, अप्राकरणिक सारोपलक्षणासम्बन्धी अर्थान्तर (श्लेषादि) का अभिधान ही असंभव है।

श्लेष तथा रूपक के विभाग को स्पष्ट करते हुए चक्रवर्ती ने कहा भी है कि – रूपकं पूर्वससिद्धं । अर्थात् पूर्व संसिद्ध रूपकं जब श्लेष का ज्ञापन करें तब रूपक होगा, और जब श्लेष ही पहले सिद्ध हो तो श्लेष ही होगा। इस प्रकार रूपकालंकार के उपवर्णन से श्लेष का पश्चात् भावित्व स्पष्ट है।

अत: ऐसे स्थलों में रूपक होने का जो रहस्य है उसे इस प्रकार समझना चाहिए। 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि स्थलो में हंस आदि पद का राजा प्रकृत में जो लक्षणा की जा रही है उसे नही करना चाहिए, बिना लक्षणा के ही सामानाधिकरण्य के कारण प्रकृत राजा का प्रसिद्ध हंस आदि से अभेद, वाक्यार्थ विधा से ही कर लेना चाहिए। वाक्यार्थ विधया अर्थात् संसर्गत:। यह नहीं कह सकते कि वाक्यार्थविधा से दोनों के अभेद का प्रत्यय सम्भव होने पर भी ताद्रूप्यप्रत्यय के लिए तो लक्षणा करनी ही होगी। क्योंकि ताद्रूप्य ही विषय विषयी के सामानाधिकरण्य स्थल में सर्वत्र विवक्षित है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऊर्ध्वं विरञ्चिभवनात् इसे पूर्व पद्य में उर एवं परमपद' दोनों के सामानाधिकरण्यस्थल में भी श्लोक में गृहीत 'एव' एवं 'साक्षात्' पदों से दोनों का अभेद ही विवक्षित प्रतीत हो रहा है ताद्रूप्य नहीं।

न च- एवं 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादावतिशयोक्तिरेव स्यात् 'विषयस्य विषयिताद्रूप्ये रूपकम्, विषय्यभेदेऽतिशयोक्ति:' इति व्यवस्थिते:। तथा च-' विषयविषयिपदसामानाधिकरण्यस्थले रूपकम्, विषय्यभेदमात्र- निर्देशस्थलेऽतिशयोक्ति:' इति व्यवस्थाविभाग: इति वाच्यम्।

> **'हृत्पङ्कजानि भजतां प्रतिबोधयन्ती**
> **संसारसागरमपि प्रविशोषयन्ती।**
> **ज्योत्स्ना त्वदङ्घ्रिनखचन्द्रसमुद्गतेय-**
> **मन्यादृशीमभयदां प्रकृतिं बिभर्ति।।'**

इत्यत्र नखकान्तिरूपविषयनिगरणेन 'ज्योत्स्ना' इति विषयिपदमात्रनिर्देशेऽपि पङ्कजविकासकत्वादिना प्रसिद्धज्योत्स्नातो व्यतिरेकेण तत्ताद्रूप्यमात्रप्रतीतेर्दर्शनेन व्यवस्थाद्वयस्याप्यशक्याङ्गीकारत्वात्। तथा च यदि 'ताद्रूप्ये रूपकम्, अभेदेऽतिशयोक्ति:' इति व्यवस्थां परित्यज्य 'विषयविषयिपदसामानाधिकरण्ये रूपकम्, विषयिपदमात्रनिर्देशेऽतिशयोक्ति:' इति व्यवस्थाद्रियते, तदा 'विद्वन्मानसहंस-' इत्यादावभेदप्रतीतौ सत्यामपि रूपकं संभवतीति न काचिदनुपपत्ति:। यदि च तथा सति रूपकातिशयोक्त्यो: शब्दवैचित्र्यमात्रभेदप्राप्त्या परस्परमर्थालंकाररूपत्वं न स्यादित्याद्या व्यवस्थाद्रियंते, तदा ज्योत्स्ना त्वदङ्घ्रिनख-' इत्यादौ विषयिपदमात्रनिर्देशेऽपि प्राचीनमर्यादायामतिशयोक्तिमपहाय रूपकमेवाङ्गीकर्तव्यम्। तद्वत् 'विद्वन्मानसहंस-' इत्यादौ विषयविषयिपदसामानाधिकरण्येऽप्यतिशयोक्तिरङ्गीक्रियताम्। किमनुपपन्नम्। तस्मात्-एतादृशस्थले समभिव्याहारादभेदप्रतीत्युपगमे न कश्चिद्दोष इति व्यर्थो लक्षणोपपादनप्रयास:। न च एवं सर्वत्र विषयविषयिपदसामानाधिकरण्यस्थले समभिव्याहारादभेदप्रतीतेर्वक्तुं शक्यत्वात्क्वचिदपि सारोपलक्षणा न स्यात्-इति वाच्यम्, इष्टापत्ते:।।

।। इति श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके
लक्षणावृत्तिनिर्णयो नाम द्वितीय: परिच्छेद:।।
।। समाप्तश्चायं समुपलभ्यमानो ग्रन्थ:।।

इत्थं विद्वन्मानसहंस इत्यादावपि विषय्यभेदे अतिशयोक्तिरेव व्यवस्थीयताम्' इति न वक्तव्यम्। अपितु विषयविषयिसामानाधिकरण्यस्थले (ताद्रूप्ये) रूपकं, विषय्यभेदमात्रनिर्देशस्थलेऽतिशयोक्तिरिति व्यवस्थाविभाग एव नाङ्गीकर्तव्य:। यतोहि सामानाधिकरण्यस्थलेऽभेद विवक्षा दर्शिता, अतिशयोक्तिस्थले ताद्रूप्यमपि दृश्यते यथा - 'हृत्पङ्कजानि इति।

हे भगवन् ! त्वच्चरणनखचन्द्रोद्भूतेयं ज्योत्स्ना (नखकान्ति:) भक्तानां हृदयकमलानि विकासयन्ती भवसागरं शोषयन्ती सती अन्यादृशीं ज्योत्स्नाविलक्षणां अभयदां प्रकृतिं बिभर्ति।

अत्र विषयनखकान्तिनिगरणेन ज्योत्स्नेतिविषयिमात्रनिर्देशेन निगीर्याध्यवसानाऽतिशयोक्ति: स्फुटा। प्रसिद्धजयोत्स्ना पङ्कजं न विकासयति, नखकान्तिस्तु हृत्पङ्कजं विकासयति इति पङ्कजविकास-

कत्वादिना नखद्युतौ, प्रसिद्धज्योत्स्नातो व्यतिरेकेण ज्योत्स्नाताद्रूप्यमात्रं प्रतीयते नाभेद इति।

अतस्ताद्रूप्ये रूपकं, अभेदेऽतिशयोक्तिरिति व्यवस्थां परित्यज्य विषयविषयिणोरूभयोः सामानाधिकरण्येनोपादाने रूपकम्, विषय-निगरणेन विषयपदमात्रनिर्देशेऽतिशयोक्तिरित्येव व्यवस्था मन्तव्या। तदानीं विद्वन्मानसहंस इत्यादावभेदप्रतीतावपि रूपकम् ज्योत्स्नेति ताद्रूप्यप्रतीतावाप्यतिशयोक्तिः संभवतीति न काचिदनुपपत्तिः।

ननु यदि सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशे, रूपकम् विषयिमात्रनिर्देशेऽतिशयोक्तिस्तदानीं बाह्यशब्दमात्रनिष्ठत्वेनानयोः शब्दालङ्कारत्वं प्राप्तम्, अर्थालङ्कारमध्ये कथं गणितौ ? इत्युच्येत, तदानीं ज्योत्स्ना त्वदङ्घ्रिनख .... इति पद्ये विषयिमात्रनिर्देशेऽपि प्राचीनमर्यादायामभेदविवक्षात्मिकायामतिशयोक्तिं विहाय, ताद्रूप्यरूप-रूपकमङ्गीकर्तव्यम्, तथा च विद्वन्मानसहंस, इत्यादौ विषयविषयि-पदसामानाधिकरण्येऽपि अभेदमादायातिशयोक्तिः स्वीक्रियताम् किमनुपपन्नम्।

अतः एतादृशस्थले विषयविषयिणोः सामानाधिकरण्यस्थले समभिव्याहारादेवाभेदप्रतीत्युपगमे व्यर्थो लक्षणोपपादनप्रयासः।

यदि सर्वत्र सामानाधिकरण्यस्थले समभिव्याहारादेवाभेद-प्रतीतिस्तदानीं सारोपलक्षणाया अस्वीकारेऽपि न कश्चन दोषः।

यदि यह कहें कि विषय का विषयिताद्रूप्य होने पर रूपक, विषयी से अभेद होने पर अतिशयोक्ति हो इस व्यवस्था के अनुसार 'विद्वन्मानसहंस' या ऊर्ध्वं .... इत्यादि स्थलो में अतिशयोक्ति ही मान ली जाय। तथा सामानाधिकरण्य स्थल में रूपक, एवं विषयी से अभेदमात्र में (अध्यवसानास्थिति में) अतिशयोक्ति रूप व्यवस्थाविभाग बना रहे तो यह भी नहीं कह सकते।

क्योंकि हृत्पङ्कजानि भजता ....। अर्थात् हे भगवन् आप के चरणनख रूपी चन्द्र से प्रादुर्भूत ज्योत्स्ना (नखकान्ति) भक्तो के हृदय कमल को विकसित तथा, संसार सागर का शोषण करती हुई, एक विलक्षण ही अभय प्रकृति को धारण करती है।

यहाँ नखकान्ति रूप विषय का निगरण कर विषयी ज्योत्स्ना' मात्र के निर्देश में भी पङ्कजविकासकत्वादि प्रसिद्धज्योत्स्ना से विलक्षण (भिन्न) धर्म से ताद्रूप्य मात्र की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार उपर्युक्त सामाना-धिकरण्य स्थलों में ताद्रूप्य न होकर अभेद की प्रतीति से, तथा इस

निगरणात्मक अतिशयोक्ति में अभेद की प्रतीति न होकर ताद्रूप्य की प्रतीति से, प्राचीनोक्त ताद्रूप्य या अभेदाभिव्यक्ति रूप व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यदि ताद्रूप्य में रूपक तथा अभेद में अतिशयोक्ति होती है इस व्यवस्था को छोड़कर विषय विषयी के सामानाधिकरण्य में रूपक, तथा विषयीमात्र पद के निर्देश में अतिशयोक्ति होती है इस व्यवस्था को स्वीकार करते है तो विद्वन्मानसहंस' आदि में रूपक संभव है किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

यदि यह कहें कि रूपक तथा अतिशयोक्ति में केवल शब्द वैचित्र्य मात्र भेद है अर्थात् एक स्थान पर दोनों विषयविषयी का उपादान तथा अन्यत्र केवल विषयीमात्र का उपादान, इस बाहरी आकार से ही भेद है अर्थतः प्राप्त ताद्रूप्य या अभेद रूप भेदक यदि नहीं है तो इसे शब्दालंकार ही क्यों न कहें, इसे अर्थालंकार क्यों कहा जाय, तो इसका उत्तर यह है कि ज्योत्स्ना त्वदङ्घ्रि .... इत्यादि स्थल में जहाँ विषयी मात्र का निर्देश है वहा भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने से प्राचीन व्यवस्था के अनुसार अतिशयोक्ति न मानकर रूपक ही माने, तथा विद्वन्मानसहंस .... इत्यादि स्थल में जहाँ विषय विषयी पदों का सामानाधिकरण्य है वहा अभेदप्रतीति होने से अतिशयोक्ति मानलें। क्या हानि है।

अतः इससे स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों में समभिव्याहार मात्र से अभेदप्रतीति के उपगम में कोई दोष नहीं है यहाँ लक्षणा के उपपादन का प्रयास व्यर्थ है। यदि यह कहते हो कि सभी विषय विषयी के सामाना-धिकरण्य स्थल में समभिव्याहार से ही अभेद प्रतीति कहीं जा सकती है सारोपलक्षणा कहीं होगी ही नहीं, तो कोई बात नहीं, इष्टापत्ति है।

।। इति श्री अप्पय्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके लक्षणावृत्ति-निर्णयो नाम द्वितीयः परिच्छेदः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय साहित्यविभागाध्यक्षेण प्रोफेसर्चन्द्रमौलिद्विवेदिना व्याख्यातः।।

।। समाप्तश्चायं समुपलभ्यमानो ग्रन्थः।।

....

श्रीनागेशभट्टविरचितायां वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायां व्यञ्जनानिरूपणम्

....

(अस्मिन्वृत्तिवार्तिकग्रन्थे व्यञ्जनावृत्तिनिर्णयस्य प्रारम्भप्रतिज्ञातस्यापि सकलादर्शेष्वदर्शनात्तन्निरूपणस्यात्यावश्यकत्वाच्च नैयायिकप्रबन्धेषु तदनादरेण वैयाकरणग्रन्थेषु तदादरेण नागेशभट्टविरचितवैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषास्थ एव व्यञ्जनानिर्णयो लिख्यते-)

मुख्यार्थसंबद्धासंबद्धसाधारणमुख्यार्थबाधग्रहाद्यप्रयोज्यप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकधीजनकत्वं व्यञ्जना। सा चेयं शब्दतदर्थपदपदैकदेशवर्णरचनाचेष्टादिषु सर्वत्र, तथैवानुभवात्। 'अनया काटक्षेणाभिलाषो व्यञ्जितः' इति सर्वजनप्रसिद्धेस्तस्यां चेष्टावृत्तित्वस्याप्यावश्यकत्वाच्च। एतेन-'अर्थादीनां न व्यञ्जकत्वम्, किंतु पदस्यैव' इत्यपास्तम्।

'रतिकाले विलोक्य श्रीर्नाभिपद्मे पितामहम्।
रसाकुलाच्छादयते दक्षिणं नयनं हरेः॥'

इत्यादौ 'हरि'पदेन 'दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकत्वम्, तन्निमीलनेन सूर्यास्तः, तेन पद्मसंकोचः, तेन पितामहस्थगनम्, तेनाप्रतिबद्धं रतिविलसितम्' इति क्रमेण व्यङ्ग्येषु प्रतीयमानेषु तत्तदर्थप्रतीत्युत्तरमेव व्यङ्ग्यप्रतीतेरर्थस्यापि व्यञ्जकत्वावश्यकत्वात्।

'पश्यात्र नलिनीपत्रे बलाका दृश्यतेऽचला।
रम्ये मारकते पात्रे शुक्तिकेव च निर्मला॥'

इत्यत्रापि निश्चलत्वेन शुत्तयुपमया चाश्वस्तत्वम्, तेन निर्जनत्वम्, तेन 'तदेवावयोः संकेतस्थानम्' इत्यादिषु क्रमेण प्रतीयमानेषु तत्तदर्थव्यङ्ग्येष्वपि बोध्यम्। पदस्य च

तत्तत्स्वार्थबोधने उपरतत्वात्पुनःपुनरनुसंधानकल्पने गौरवम्, तदननुभवाच्च। अनया चार्थबोधे जननीये वक्तृबोद्धव्यवाच्यादिवैशिष्ट्यज्ञानं प्रतिभा च नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः। तदुक्तम्-

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'

इति। नवनवोन्मेषो जन्मान्तरयतद्वीजनकत्वज्ञानजन्य संस्कारोद्बोधः। 'वक्त्रादिवैशिष्ट्यसहकारेण तज्जनिका बुद्धिः प्रतिभा' इति फलितम्। एवं च शक्तिरेतज्जन्मगृहीतैवार्थबोधिका, व्यञ्जना तु जन्मान्तरगृहीतापि, इत्यपि शक्तेरस्या भेदकम्। इदमेवाभिप्रेत्य 'व्यञ्जना स्वरूपसती हेतुः' इति प्रवादः। यद्यपि प्रागुक्तरीत्या लक्षणातोऽपि भेदः सिद्धः, तथापि प्रकारान्तरेणापि भेदं वक्तुं 'मुख्यार्थ-' इत्याद्युक्तम्। 'पश्यात्र नलिनीपत्रे-' इत्यादौ वक्तृतात्पर्यविषयीभूतवाच्यार्थबाधाभावेऽपि तज्ज्ञानाभावेऽपि प्राग्दर्शितव्यङ्ग्यप्रतीतेः, मुख्यार्थबाधज्ञानसत्वे तदप्रतीतेश्च न व्या(वैय)ञ्जनिकबोधे तस्य सहकारित्वम्। एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादेः शिष्येण संध्यावन्दनादेः कर्तव्यत्वाभिप्रायेण गुरूं प्रति प्रयुक्ताद्वक्तृतात्पर्याभावेऽपि प्रतिवेश्यादीनामभिसरणीयक्रमादिबोधस्य वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकस्य वाच्यार्थबाधज्ञानेऽजायमानस्य लक्षणयोपपादयितुमशक्यत्वाच्च। यत्तु 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ न व्यञ्जना, एकसंबन्धिदर्शनादपरसंबन्धिस्मरणवदुपपत्तेः, इति; तन्न। असंबद्धव्यङ्ग्यप्रतीतावस्यासंभवात्। किंच 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादिश्रवणोत्तरं 'संध्यावन्दनकर्तव्यत्वं मया स्मृतम्' इत्यनुव्यवसायाभावात्, तत्तानुल्लेखाच्च। 'इदं पदमेतदर्थस्य न वाचकम्, नापि लक्षकम्, नापि स्मारकम्। अपि तु व्यञ्जनया बोधकम्' इति प्रामाणिकव्यवहारेणाप्यतिरिक्ततत्सिद्धेश्च। एतेन-तत्दर्थानां वक्त्रादिवैशिष्ट्यप्रतिभादिसहकृतमनसैव विशिष्टधीसंभवात्। चमत्कारं प्रति शाब्दस्येव मानसस्यापि चेष्टानुरोधेन हेतुतायाः क्लृप्तत्वाच्च व्यञ्जनासत्वे न मानम्। प्रतिभा च तत्तत्पदपदार्थ-

विषयकसंस्कारोद्बोधको बुद्धिविशेषः। तत्र च तत्तदर्थज्ञानं वक्रादिवैशिष्टयं ज्ञानं च सहकारि-इति परास्तम्।।

'व्यङ्ग्योऽर्थोऽनुमेयः' इति त्वयुक्तमेव, विरूद्धानैकान्तिकेभ्यो व्याप्तिपक्षधर्मतादिनिर्णयाभावेऽपि व्यङ्ग्यार्थप्रतीततः। किं च-सिद्धिसत्वेऽपि व्यङ्ग्यार्थबोधदर्शनेन तत्प्रतिबध्यतावच्छेदक-कोटौ तत्तद्भेदनिवेशेऽतिगौरवापत्या व्या(वैय)ञ्जनिकबोधस्याति-रिक्तत्व एव लाघवम्। अन्यथा शब्दप्रामाण्यस्याप्युच्छेदापत्ति-रित्यन्यत्र विस्तरः। बोधकत्वस्य चेष्टायां सत्वेऽपि तन्निष्ठ-बोधकत्वं न शक्तिः, 'चेष्टा शक्ता' इति प्रामाणिक-व्यवहाराभावात् किं तु तज्जन्यबोधे तज्ज्ञानस्य कारणत्वं बोध्यम्। तत्तद्वाचकशब्दस्मरणद्वारा चेष्टया बोधः - इत्यपि कश्चित्। तन्न चेष्टयेडमूकादिव्यवहारानापत्तेः। 'तस्यापि जन्मान्तरीयशब्दस्मरणम् इत्यन्ये।।

अत एव निपातानां द्योतकत्वमाकरे उक्तम्। स्फोटस्य च व्यङ्ग्यता हर्यादिभिरूक्तैव। द्योतकत्वं च समभिव्याहृत-पदशक्तिव्यञ्जकत्वमेव-इति वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।।

।। इति श्रीनागेशभट्टविरचितायां
वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायां व्यञ्जनानिरूपणम्।।

